मार्क्सवादी चिन्तन

आचार्य दीपंकर

जनमत प्रकाशन, मेरठ

मूल्य □ पांच रुपये

प्रथम संस्करण □ १९७५

प्रकाशक □ जनमत प्रकाशन
शिवाजी रोड,
मेरठ

मुद्रक □ श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स,
ए २२, नारायणा औद्योगिक क्षेत्र,
भाग २, नई दिल्ली-११००२८

समर्पण

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को
जिनके महान् चिन्तन, प्रखर पाण्डित्य और
अद्भुत अध्यवसाय वृत्ति एव व्यक्तिगत स्नेह ने
मुझे जीवन के प्रति सामाजिक मोड दिया था।

चिरकृतज्ञ
दीपकर

प्रकाशकीय

मार्क्सवादी चिन्तन वैज्ञानिक युग के बाद का सामाजिक व दार्शनिक चिन्तन है। इसके बिना मानव समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम का अध्ययन संभव नहीं है जो विभिन्न संस्कृतियों तथा मानवीय उपलब्धियों में तारतम्य स्थापित करके मानव की नवीनतम उपलब्धियों और प्राच्य परम्पराओं को शृखलाबद्ध करता है। इसके अलावा, यही वह दार्शनिक चिन्तन परम्परा है जो पाषण युग के वैज्ञानिक विकास का आधुनिक परमाणु विज्ञान एवं स्पूतनिक युग के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। मार्क्स-वादी दर्शन के बिना आज का सामाजिक चिन्तन पंगु एवं सीमित है।

इस छोटी-सी पुस्तिका में भारतीय चिन्तन पद्धति और परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी चिन्तन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

—प्रकाशक की ओर से

दर्शन में मजदूर वर्ग की रुचि क्यों

मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टिया केवल राजनैतिक सत्ता के लिए संघर्ष नहीं करती है। कुछ व्यक्तियो या व्यक्ति समूह को राजगद्दी से उतार देने और दूसरे व्यक्तियो को पदासीन कर देने मात्र से समाज मे क्रान्ति नही आती। शोषण व्यवस्था भी इतने से खत्म नही होती।

अमरीका, इगलैण्ड, आदि प्रमुख पूंजीवादी देशो मे कुछ पार्टिया सत्ता मे रहती हैं और कुछ विरोध करती है। अमरीका मे जब रिपब्लिकन पार्टी सत्ता मे होती है तो डेमोक्रेटिक पार्टी विरोधी पार्टी होती है। इगलैण्ड मे मजदूर पार्टी का राज रहता है तो टोरी पार्टी विरोध पक्ष मे बैठती है। परन्तु इस सत्ता और विरोध की राजनीति का सामाजिक क्रान्ति की ताकतो को विशेष लाभ नही होता। इसलिए कि दोनो पक्षो मे अर्थात् सत्ता और विरोध मे पूंजीपतियो के ही हिस्से काम करते हैं। उनका आपसी विरोध चाहे जितना उग्र हो और वे एक दूसरे की जान लेने की घोषणायें भी क्यो न करते हो परन्तु वर्ग रूप म उनके आर्थिक और राजनीतिक हित एक ही रहते हैं। इसीलिए यदि यह डर उन्हे दिखाई देने लगता है कि उनके आपसी विरोध का लाभ उठाकर सर्वहारा वर्ग अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है अथवा उनके सत्ता संघर्ष से पूंजीवाद कमजोर हो रहा है और समाजवाद की ताकतें बल पकड रही है तो वे आपस मे एक हो जाने की कोशिश करते हैं। उनकी मिली-जुली कुश्ती का दगल खत्म होने मे देर नही लगती।

जो पार्टिया कल तक एक दूसरे का विरोध कर रही थी और सत्ता

के संघर्ष में खम ठोककर एक दूसरे को चुनौती दे रही थी, उन्हें इस तरह अचानक दोस्ती का हाथ मिलाते देखकर चकित सर्वहारा वर्ग यह नही समझ पाता कि सत्ता और विरोध के दो खेमे अचानक कैसे मिल गए और कल तक के जानी दुश्मन अकस्मात् एक कैसे हो गए ? इस अद्भुत रहस्य का पता लगाने के लिए सर्वहारा वर्ग को गहरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। वह ज्ञान दर्शनशास्त्र से ही मिलता है। इसीलिए मजदूर वर्ग दर्शन में इतनी गहरी दिलचस्पी रखता है। सर्वहारा का यह दर्शन द्वन्दात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। संक्षेप मे इसे मार्क्सवाद कहते हैं। इसलिए कि महर्षि कार्ल मार्क्स इसके आदि प्रवर्तक थे।

समाज का कोई भी हिस्सा व्यक्ति या व्यक्ति समूह वही सोचता और करता है जो उस सामाजिक वातावरण के अनुकूल होता है जिसमें वह जन्म लेता और काम करता या रहता है। इसी प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति एवं व्यक्ति समूह जिस सामाजिक वातावरण मे रहता है उसके प्रति उसका विरोध चलता रहता है। इसलिए कि उसके आर्थिक और राजनीतिक हित दूसरों से टकराते रहते हैं। हितों का यह संघर्ष ऐसे व्यक्तियों को किसी पार्टी विशेष मे जोड़ देता है और यह सत्ता और विरोध की पार्टी बन जाती है या कि वह कभी सत्ता में और कभी विरोध मे आती जाती रहती है। परन्तु पूंजीवादियों के हिस्से आपस में चाहे जितना विरोध रखते हों और दुश्मनी करते हों, वे पूंजीवाद के हित में सोचने के अलावा और क्या सोच सकते हैं ? वे समाजवाद की विजय के लिए और पूंजीवाद की पराजय के लिए कैसे सोच सकते हैं या संघर्ष कर सकते हैं ? इसलिए कि जिस सामाजिक वातावरण मे वे रहते हैं, वहां ऐसा होना स्वाभाविक नहीं है।

मजदूर वर्ग अपने दर्शन के प्रकाश में यह देखता है कि पूंजीपति वर्ग आपस में कहां तक टकराते हैं और किस मंजिल में अन्त पर एक हो जाते हैं ? कुछ वर्ग जो बीच के हैं, संघर्ष में सर्वहारा का साथ देते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो बीच में ही साथ छोड़कर भाग खड़े होते हैं और कुछ अन्त

तक साथ नही छोडते । कुछ वर्ग ऐसे मिलते हैं जो सघर्ष के हर निर्णायक मोड पर कांप जाते हैं और डांवाडोल रहते हैं । कुछ वर्ग ऐसे हैं जो पहले तो साथ नही थे, परन्तु निर्णायक घडी के आ पहुंचने पर अपना सर्वस्व दाव पर लगाकर सर्वहारा का साथ देते है ।

प्रत्येक वर्ग एव व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृति और प्रतिक्रिया समझने के लिए मजदूर वर्ग को अपने दर्शन की आवश्यकता होती है ।

क्या दर्शन भी वर्गो का होता है ?

हां, दर्शन भी वर्गों का होता है । दर्शन सामाजिक व बौद्धिक दृष्टिकोण ही तो है जिसके प्रकाश मे कोई आगे बढता है । व्यक्ति के जीवन मे जो स्थान आंखो का है, वही स्थान सामाजिक जीवन मे दर्शन का है । जैसे आंखो के अभाव मे व्यक्ति चल नही सकता या लडखडाकर चलता है और ठोकर खाकर गिर पडता है । दर्शन के अभाव मे समाज लडखडाकर चलता है और गिर पडता है । समाज की व्यवस्था की आधारशिला आर्थिक व्यवस्था होती है । आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा पैदावार के साधनों और उत्पादन सम्बन्धो से निश्चित होती है । उत्पादित साधनो तथा उत्पादन सम्बन्धो में अनेक वर्ग सम्मिलित होते है और यह वर्ग भेद ही सामाजिक शरीर का गठन करता है । वर्ग भेद से भरा समाज कभी शान्तिपूर्वक नही रह सकता । उसमे निरन्तर सघर्ष चलता रहता है ।

स्पष्ट है कि समाज के विभिन्न वर्ग जब आपस मे सघर्ष करते हैं तो अपने सामाजिक व आर्थिक हितो की रोशनी मे अपने सहयोगियो की तलाश करते है और सघर्ष की मोर्चाबन्दी बाधते है । जो सघर्ष आज समाज म दिखाई दे रहा है, वह नया नहीं है, हजारो साल पुराना है । यद्यपि यह सही है कि पूंजीपति और सर्वहारा नये वर्ग है तथा हजार साल पहले इन वर्गों और सघर्षों की लोगो ने कल्पना भी नहीं की होगी । परन्तु इससे क्या फर्क पडता है ? यह वर्ग भेद नया भले ही हो, किन्तु वर्ग

संघर्ष नया नही है। और जैसे आज का पूंजीपति एवं सर्वहारा अपने-अपने दर्शनशास्त्र से प्रेरणा लेता है, नया मार्ग खोजता है और बुद्धि विभ्रम दूर करने के लिए सिद्धान्त का सहारा लेता है, उसी तरह, पूंजीपति और सर्वहारा के जन्म से पहले भी यही होता था। कामचोर वर्ग अपने दर्शन से तथा कमेरा वर्ग अपने दर्शन से प्रेरणा लेता था। संघर्ष का बाहरी रूप तो जरूर बदल गया है और बदल ही जाता, परन्तु उसकी आत्मा अर्थात् मूल प्रेरणा नही बदली है।

हजारों वर्ष पुराने वर्ग संघर्षों के इतिहास में कमेरे अपने मुख्य शत्रुओं, शत्रु सहयोगियो तथा शत्रु के तटस्थ सहयोगियों के साथ ही अपने मुख्य सहयोगियों, और तटस्थ सहयोगियों का ज्ञान प्राप्त करते थे और युग विशेष की विशेष परिस्थितियों के अनुसार संघर्ष में विजय प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

प्रत्येक अवस्था और युग में मुख्य सम्पत्तिधारी वर्ग सामाजिक क्रान्ति के मुख्य शत्रु एवं मुख्य प्रतिक्रियावादी वर्ग माने जाते थे। दूसरा स्थान इस सघर्ष में उनका था जो अपने वर्गीय अस्तित्व के लिए मुख्य सम्पत्तिधारी वर्ग पर आश्रित होते थे। ऐसे लोग या वर्ग जिन्हें शोषक वर्ग विशेष अवसरों तथा परिस्थितियों में कुछ टुकड़े देकर भूल जाता था। वे तटस्थ शत्रु बनते थे। इसी प्रकार, जिस वर्ग पर उस काल की अर्थव्यवस्था का मुख्य भार पड़ता था और उस भार को एक और फेंके बिना जिसके जीवन के समस्त मार्ग रुके रहते थे, वह क्रान्ति की मुख्य शक्ति माना जाता था। इसके हितों के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए वर्ग क्रान्ति के मुख्य सहयोगी कहलाते थे। और वे लोग तटस्थ सहयोगी माने जाते थे जो क्रान्ति के तात्कालिक लक्ष्य से तो सहमत रहते थे, परन्तु उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने की चर्चा से भयभीत हो जाते थे।

इस महान् वर्ग संघर्ष में जो स्थान संघर्ष के अन्य साधनों का है वही स्थान दर्शन का भी है जिसके बिना ये प्रमुख सामाजिक शक्तियां सफलता के साथ सघर्ष नही चला सकती थी। इस प्रकार, अब तक की व्यवस्थाओं

के खिलाफ सघर्ष मे क्रान्ति-[illegible]धी और क्रान्तिकारी शक्तियो का निम्न-
लिखित सिहावलोकन होता है

दास प्रथा   मुख्य शत्रु—दासो का स्वामी [illegible] और शोषक भी।

उसका मुख्य सहयोगी—कबीलो के चौधरी, सेना के उच्च अधिकारी
और मेट (जमादार)।

तटस्थ सहयोगी—सेना के साधारण सिपाही, कबीलो के द्वितीय
चौधरी और स्वतत्र कृषि जीवी किसान, कमीण
जातिया, शिकारी और वणिक।

शत्रु का दर्शन—अनेकेश्वरवाद (आध्यात्मिक) स्वामी सेवा
(सामाजिक) और पुनर्जन्म का सिद्धान्त (बौद्धिक)।

क्रान्ति की मुख्य शक्ति—उदरदास, क्रीतदास, कुलदास, जन्म
दास, अहितिक और निस्पतित (भागा हुआ)
जिन्हे अपने जीवन मे आर्यत्व (स्वाधीनता) की
कोई आशा नही थी।

क्रान्ति का मुख्य सहयोगी—निक्षिप्त दास (धरोहर मे रखा हुआ)
दण्डदास, धातृपुत्र, स्ववश, परवश, निष्क्रियदास
(जो मुआवजा देकर आर्यत्व प्राप्त कर सकता था),
गृहजात, दायभागागत, कृषक (किसान), कारी-
गर (कारव), शिल्पी, कुशीलव, गायक, वादक,
नर्तक, चिकित्सक, वागजीवन, परिचारक और
आशाकारिक (मेहनताने की आशा मे काम करने
वाला) तथा कर्मकर आदि अर्द्ध दाससमुदाय वर्ग।

तटस्थ सहयोगी—किसान (पैदावार मे हिस्सा मिलने के कारण वह
स्वामी की ओर देखता है और स्वामी के क्रूर
शोषण से तग आकर क्रान्ति की ओर देखता है)।

क्रान्ति का दर्शन—लोकायत अथवा बृहस्पति का नास्तिक दर्शन
जिसके प्रसिद्ध अनुयायी चार्वाक थे, पुर्नजन्म

स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं का खण्डन (बौद्धिक) मानव मात्र की समानता (सामाजिक)।

सामन्तवाद : मुख्य शत्रु—राज्याभिषिक्त राजा।

शत्रु के मुख्य सहयोगी—सामन्त, सेनापति और समाहर्त्ता आदि २६ प्रकार के प्रशासकीय अध्यक्ष अर्थात् नौकरशाही।

तटस्थ सहयोगी—सौदागर थोड़ी भूमिवाले, राज्य द्वारा उपेक्षित सम्पन्न वर्ग एवं व्यक्ति।

शत्रु का दर्शन—एकेश्वरवाद (आध्यात्मिक) पुनर्जन्म एवं उसका फल, अवतारवाद, वर्ण व्यवस्था (सामाजिक) और जन्म से ऊँच नीच का भेद (सामाजिक)।

क्रान्ति की मुख्य शक्ति—औद्योगिक पूंजीपति।

मुख्य सहयोगी—किसान एवं सर्वहारा वर्ग, पूंजीपति, शिल्पकार, सौदागर, दस्तकार एवं बुद्धिजीवी।

तटस्थ सहयोगी—उच्च पूंजीपति एवं सम्पन्न किसान, विशेषाधिकार प्राप्त नौकरशाही।

क्रान्ति का दर्शन—जमीन जोतने वाले की (आर्थिक) जन्म से राजा और छोटा बड़ा नहीं (राजनैतिक) अवतारवाद का खण्डन, ईश्वर को एक संचालक एवं शक्ति के रूप में मान्यता देना जो कि पूंजीवाद को औचित्य प्रदान करता है (आध्यात्मिक)।

पूंजीवाद : मुख्य शत्रु—एकाधिकारी पूंजीवाद।

मुख्य सहयोगी—सामन्ती अवशेष, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ और नौकरशाही।

तटस्थ सहयोगी—राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग, सामन्ती पूछवाला धनी किसान, सम्पन्न व्यापारी और मध्यम उद्योगपति।

शत्रु का दर्शन—कर्मफलवाद और अगोचर शक्ति में आस्था (आध्यात्मिक) ट्रस्टी शिप (आर्थिक) और श्रम शक्ति के

विभाजन की पैरवी (सामाजिक)।

क्रान्ति की मुख्य शक्ति—औद्योगिक सर्वहारा और एशिया की विशेष परिस्थिति मे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी एव नवयुवक वर्ग, देहाती सर्वहारा, छोटा किसान और राजकर्मचारी वर्ग।

मुख्य सहयोगी—सम्पूर्ण किसान जनता, दस्तकार, शिल्पकार, राज-कर्मचारी, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था और विकसित पूजीवादी देशो का औद्योगिक सर्वहारा।

तटस्थ सहयोगी—सम्पन्न धनी किसान, मध्यम व्यापारी, मध्यम उद्योगपति, विशेष परिस्थिति मे पूरा राष्ट्रीय पूजीपति वर्ग और प्रगतिशील प्रशासकीय अधिकारी वर्ग।

क्रान्ति का दर्शन—द्वन्द्वात्मक एव भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद (जो करेगा, वही खायेगा जो करेगा नही वह खायेगा भी नही)।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

आधुनिक विज्ञान और मार्क्सवाद के उदय से पहले दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में लोगों की धारणा बड़ी अजीब-ओ-गरीब थी। लोग बाग दर्शन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज के दैनिक जीवन के साथ नहीं जोड़ते थे। वे ऐसा सोचते थे जैसे इसका सम्बन्ध केवल कुछ बुद्धिजीवियों के साथ है जो इसी चर्चा के जिम्मे खाते हैं और जीवन निर्वाह करते हैं। या कि विशेष तथा असाधारण लोगों के साथ इसका सरोकार समझते थे। दर्शन ऐसा सिद्धान्त नहीं समझा जाता था जो समाज की क्रियाओं को प्रभावित करता हो, उसे उचित मोड़ देता हो और साथ ही समाज की सामूहिक क्रियाओं से स्वयं प्रभावित होता हो।

परन्तु अब साधारण विवेक के लोग भी यह मानने लगे हैं कि समाज जो कुछ करता है उसके पीछे दर्शन काम करता है। वह समाज को प्रेरणा देता है और समाज अपने प्रतिदिन बढ़ते जा रहे ज्ञान और विज्ञान के प्रकाश में अपने अनुभवों के आधार पर अपने सामाजिक दर्शन को समृद्ध करता है।

धर्म और दर्शन

यद्यपि निश्चयपूर्वक यह दावा करना मुश्किल है कि मानव समाज में ऐतिहासिक तौर पर पहले धर्म आया या दर्शन और या फिर ये दोनों ही एक साथ आये। परन्तु विवेक बुद्धि से यही सही प्रतीत होता है कि पहले दार्शनिक चेतना पैदा हुई होगी और उसी के आधार पर समाज में धार्मिक

धारणाओ का जन्म हुआ होगा।

दार्शनिक क्षेत्र मे विश्व का सबसे पहला दार्शनिक भौतिकवादी ही रहा होगा। और उसने लोकायत दर्शन की स्थापना की होगी जिसका अर्थ होता है 'लोके आयत व्याप्त मितिलोकायतम्' अर्थात् सर्वसम्मति से जनता द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त। कोई भी दार्शनिक जनचेतना से बाहर के किसी सिद्धान्त का अनुसरण नही कर सकता। और कालान्तर मे जब भी कभी कोई नये सिद्धान्त की स्थापना करता है उससे पहले ही बीज रूप मे वह सामाजिक चेतना मे घर बना लेता है।

परन्तु यह दुर्भाग्य की ही बात है कि आगे चल कर दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्र का पूरक बना दिया गया जो नाना प्रकार की रुढियो मे फस कर अपनी जीवनी शक्ति नष्ट कर बैठा।

केवल हिन्दुस्तान मे ही नही, पूरे ससार मे धार्मिक रुढिवादियो और पुराणपथियो ने दर्शन को धर्मशास्त्र की ही एक शाखा मे परिणत करके दर्शनशास्त्र के विकास मे बाधा पैदा की। उसकी सामाजिक भूमिका धुधली बन गयी। परन्तु फिर भी, वह समाज की प्रेरक शक्ति बना रहा और बाध्य होकर धर्म को भी अपना रूप निरन्तर बदलते रहना पडा। इसलिए कि सामाजिक क्रिया-कलाप का दर्शन पर सीधा प्रभाव पडता था। सामाजिक अनुभवो से दर्शन बदलता था। जड धर्म उस परिवर्तन को पहले रोकता था और असमर्थ सिद्ध हो कर बाद मे खुद भी बदल जाता था।

धर्म और दर्शन के आपसी सम्बन्धो का यही इतिहास है।

विज्ञान और दर्शन

विज्ञान ने दर्शन की असलियत निखारी है, उसे जनता की चीज बताया है। आधुनिक विज्ञान ने दर्शन को वैज्ञानिक रूप दिया है और वह बताता है कि दर्शन श्रमजीवी जनता के लिए अमोघ सैद्धान्तिक हथियार है। दर्शन की सहायता से सर्वहारा वर्ग समाज के विकास की

विशेष अवस्था का रूप जानता है। समाज में होने वाले परिवर्तन दिखाई देते रहते है। इन परिवर्तनों में अनेक वर्ग अपने हित और अहित देखते है। उन्ही के अनुसार हरकत करते हैं और एक दूसरे वर्ग को अपना मुख्य शत्रु, गौण शत्रु एवं तटस्थ शत्रु तथा मुख्य सहयोगी, गौण सहयोगी एवं तटस्थ सहयोगी के रूप में समझ कर अपना कर्त्तव्य निश्चित करते हैं। इस प्रकार, आधुनिक विज्ञान ने दर्शन को जनता के साथ और भी धनिष्ठता के साथ जोड़ दिया है। इससे पहले देखने में वह कुछ विद्वानो के वाग् विलास का साधन मात्र था।

एक जमाना था जब दर्शन और विज्ञान सामाजिक विकास की पिछड़ी हुई अवस्था मे ज्ञान की दो भिन्न एवं महत्वपूर्ण शाखायें नहीं समझी जाती थी। ऐसा केवल इसीलिए था कि विज्ञान भी प्रारम्भिक अवस्था मे था और तदनुरूप दर्शन भी। इसके अलावा, पैदावार प्राकृतिक अवस्था में थी। पैदावार के साधन स्थूल थे। उनसे काम लेने के लिए बहुत सूक्ष्म ज्ञान एवं कुशलता की आवश्यकता नही थी। उनमें संशोधन एवं परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होते थे। कभी-कभी कई-कई पीढियां एक ही प्रकार के साधनो से काम करती रहती थी। शारीरिक कुशलता की विशेष आवश्यकता न होने पर उन्हें दक्षता की जरूरत अनुभव नही होती थी। स्पष्ट है कि जितनी मन्थर गति से विज्ञान एवं कारीगरी का विकास होता था उतनी ही मन्थर गति से समाज प्रगति करता था। और दर्शन के विकास तथा परिवर्तन की गति का उनसे भी अधिक धीमा होना स्वाभाविक ही था।

विज्ञान और कारीगरी का विकास पूरे मानव-समाज के इतिहास मे पिरोया हुआ है। जिसने सबसे पहले अन्धकार से पूरित कन्दरा में सरसों के तेल का चिराग जलाया होगा, उसने परमाणु के विस्फोट से कम रोमांचकारी काम नही किया था। जिस व्यक्ति ने सबसे पहले लोहा गलाया होगा उसने आइंस्टीन और न्यूटन से कम महत्व का आविष्कार नही किया था। प्रत्येक आविष्कार अपने युग मे विशेष महत्व रखता है

और यह महत्व विकास की उत्तरोत्तर अवस्थाओ मे अपना महत्व कम करता जाता है। इसलिए कि अगला विकास पहले के मुकाबिले बडा एव प्रभावकारी होता है जिसकी चकाचौध मे पिछला विकास पिछडा हुआ-सा प्रतीत होता है।

विज्ञान और कारीगरी के विकास का दर्शन के विकास के साथ गहरा और घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे कुछ धार्मिक पुराणपथी दर्शन का स्वतत्र अस्तित्व न मानकर उसे धर्म की ही एक शाखा के रूप मे पेश करने का असफल प्रयास करते रहे है, उसी तरह ये धार्मिक अन्धविश्वासी विज्ञान के साथ भी खिलवाड करते रहे हैं। वे विज्ञान को यह हिदायत देते रहे हैं कि वह धार्मिक पुस्तको मे प्रतिपादित तथ्यो, सिद्धान्तो और मान्यताओ की पुष्टि करे तथा विज्ञान सिद्ध अनुभव से यदि उन अन्ध-विश्वासो की पुष्टि न होती हो तो विज्ञान को धर्म के सामने सिर झुका कर उस रहस्य का आवरण नही हटाना चाहिए। इसलिए कि विज्ञान अनुभव से सिद्ध होता है जब कि धर्म की धारणा ईश्वरीय नियमो से सिद्ध होती है।

परन्तु विज्ञान एव कारीगरी स्वभाव से ही चिर विद्रोही हैं। आज तक उन्होने रुढिवादी परम्पराओ से सघर्ष करके ही अपना औचित्य सिद्ध किया है। जो रुढियो के सामने नतमस्तक होता है, वह सच्चा वैज्ञानिक नही होता। पुराना औजार छोडकर ही कारीगर नया औजार लेता है। पुरानी रूढि तोडकर ही वैज्ञानिक नये सिद्धान्त का आविष्कार करता है। अत उच्च कोटि का कारीगर और वैज्ञानिक कभी रूढिवादी नही होते। रुढिवाद और विज्ञान का जन्मजात वैर है।

जैसे जैसे विज्ञान उन्नति करता है और पैदावार के क्षेत्र मे प्रवेश करता है, वैसे वैसे कारीगरी एव कौशल मे उन्नति होती है। यह उन्नति कारीगर की दक्षता अनिवार्य बनाती है जिससे उसका बौद्धिक विकास होता है। यह बौद्धिक विकास एक नये दर्शन की अनिवार्यता अनुभव करवाता है। नई सामाजिक परिस्थितियो म पुराने दार्शनिक दृष्टिकोण

काम नहीं करते। यदि उन्हे हटाया नहीं जाता तो मन और हाथ एकाकार होकर काम नहीं करते जिससे मानव समाज की प्रगति रुक जाती है।

विज्ञान और समाज

एक जमाना था जब समाज खुदरा बनस्पति और कन्द, मूल, फल खाकर जीता था। शिकार खेलकर पेट पालता था। उसमें और समझदार बन्दरों के गिरोह में ज्यादा फर्क नहीं था। परन्तु आदमी और बन्दरों को उनकी अनुभव शक्ति एक दूसरे से अलग करती थी। जो दुनिया सामने थी और जो पदार्थ आस-पास के वातावरण में विद्यमान थे और जो घटनायें उसकी आंखों के सामने होती थीं, उन्हें हजारों लाखों साल तक आदमी यों ही और आकस्मिक-सी मानता रहा। परन्तु लम्बे समय के बाद उसे अनुभव हुआ कि प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई नियम काम कर रहा है और प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे पदार्थ पर निर्भर करता है। मनुष्यों ने इन नियमों का पता लगाना शुरू कर दिया और इस प्रकार प्रकृति की दारुणता से संघर्ष करने के लिए एवं अपना जीवन सुगमय बनाने के लिए मनुष्यों ने जो प्रयत्न शुरू किये उनमें विज्ञान की रोशनी में कदम आगे बढ़ाना संभव हुआ।

इस प्रकार, मानव समाज के विकास में विज्ञान का सबसे बड़ा हाथ है। विज्ञान की एक उपलब्धि अगली उपलब्धि के लिए जमीन तैयार करती है। और इस प्रकार, विज्ञान एवं समाज एक-दूसरे का हाथ पकड़कर आगे बढ़ते हैं।

समाज और दर्शन

विज्ञान और कारीगरी समाज की अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाते हैं और उससे समाज का भौतिक ढांचा धीरे-धीरे बदल जाता है। इस परिवर्तन का प्रभाव समाज की चेतना एवं बौद्धिक प्रणाली पर पड़ता है। पुरानी धारणायें नई भौतिक परिस्थितियों से टकरा कर चूर-चूर हो

जाती है तथा नई धारणाओ का जन्म होता है। ये बहुत सी नई धारणायें एक मुख्य धारा मे एकाकार होकर नये सामाजिक दर्शन का रूप लेती हैं। नई सामाजिक परिस्थितिया नये समाजिक दर्शन को जन्म देती हैं। परन्तु जितनी तेज गति से समाज की भौतिक व आर्थिक परिस्थितिया बदलती है, उतनी ही तेजी से समाज का नया दर्शन नही बनता। उसमे समय लगता है।

समाज की हजारो-लाखो क्रियायें धीरे-धीरे एक ही दिशा मे मुडती है तो बडा आकार धारण करके एक वृहत् धारा बनती है और पूरे समाज की चेतना का रूप धारण करती है। यह सामाजिक चेतना उस समाज का दर्शन है। यह दर्शन समाज की सामूहिक चेतना से पैदा हुआ और भविष्य मे समाज के सम्पूर्ण क्रिया-कलापो को सगति प्रदान करता है।

समाज के अनेक युग एव अवस्थायें हैं। प्रत्येक अवस्था का अपना दर्शन होता है। यदि पहली अवस्था का दर्शन दूसरी अवस्था के युग मे बदल नही जाता और समाज मे पुरानी दार्शनिक धारणायें ही काम करती रहती हैं तो, समाज लडखडाकर चलता है, उसका मन, दिमाग और हाथ-पाव एक सूत्र मे बधकर एक ही दिशा मे हरकत नही करते तो समाज धीमी गति से आगे बढता है।

इसलिए सामाजिक दशन क्रान्ति के लिए परम अनिवार्य होता है।

दर्शन क्या है ?

हम जिस वातावरण या परिस्थितियो मे रहते है, जिन वस्तुओ से हमारा सम्पर्क होता है, जो क्रियायें या प्रतिक्रियायें हमे देखने को मिलती हैं जो अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारे मनो पर पडता है और जो पदार्थ हमे दृष्टिगोचर होते हैं उन्ही से जुडे हुए दूसरे जो पदार्थ सम्पर्क या जानकारी मे आते हैं, उन सबके सम्बन्ध मे हमे एक मत बनाना पडता है। ये क्या हैं, कैसे हैं, कहा से आये हैं, कहा जायेंगे और यह कैसे हुआ आदि। मानव सदा ही इन जिज्ञासुओ से भरा हुआ रहा है और दर्शन ने

उसकी इन जिज्ञासुओं का समाधान किया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि सामाजिक चेतना में अन्तर और सुधार के साथ ही दर्शन में अन्तर तथा सुधार होता रहा है।

दर्शन दो प्रकार के

यद्यपि दर्शन की शाखायें तथा उपशाखायें हजारों हैं, फिर भी दर्शन मुख्य रूप से दो प्रकार के रहे हैं। भौतिकवादी और अभौतिकवादी। जो दार्शनिक भूत को मूल मानते हैं और कहते है कि चेतना एवं विज्ञान भी भूत की ही पैदावार है और यह दावा करते हैं कि भूत के गर्भ में स्थित अन्तविरोधों के कारण वह कभी निष्क्रिय नही रहता और इसलिए भूत में क्रिया पैदा करने के लिए भी किसी अभौतिक कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है, वे भौतिकवादी कहलाते हैं। जो भूत को गौण या मिथ्या मानते हैं, चेतना या आत्मा अथवा विज्ञान को सत्य मानते हैं और संसार को मिथ्या कहते हैं, उन्हें विज्ञानवादी, अध्यात्मवादी या अतिभूतवादी कहते हैं। इसके अलावा, एक तीसरी श्रेणी है जो द्वैतवादियों की है जो भूत एवं चेतना दोनों को मुल मानते है। पहले दोनों-भौतिकवादी तथा विज्ञान-वादी अद्वैतवादी है तथा ये द्वैतवादी हैं। दर्शनशास्त्र के ये दो मुख्य भेद है।

सनातन काल से भौतिकवाद और अभौतिकवाद में संघर्ष होता आ रहा है। प्रश्न यह है कि सृष्टि से लेकर प्रलय तक, परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक और जड़ पदार्थ से लेकर परमात्मा तक, हर सवाल के दो जवाब आते हैं। एक जवाब भौतिकवादी देता है और दूसरा जवाब अभौतिकवादी देता है।

मार्क्सवाद : असाधारण बौद्धिक छलांग

मार्क्सवाद अपने ढग का बिल्कुल निराला दर्शन है। यह पूर्व और पश्चिम की तथा अब तक मानव जाति की समस्त चिन्तन परम्पराओ की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि और सार है। वह न तो ऐसा अध्यात्मवाद है जो ऊचे आदर्शों के नाम पर मानव जाति को अन्धविश्वासो मे फसा कर निरा पाखण्डी बना देता है और न ऐसा भौतिकवाद है जो सामाजिक जीवन को ऊचे आदर्शों के खूटो से उखाड कर उच्छृङ्खल और उद्दण्ड बना देता है। यह ऐसा दर्शन भी नही है जो विश्व की वास्तविकताओ की ओर से आखें मीच कर किसी महापुरुष ने समाधिस्थ होकर रचा हो। यह दर्शन ऐसे महापुरुषो का आविष्कार है जो जीवनपर्यन्त मानवजाति की मुक्ति के लिए सघर्ष करते रह। सघर्षों के कुरुक्षेत्र मे ही उनकी जीवन लीला समाप्त हुई। पहले दो वाले मार्क्स और एगिल्स काल्पनिक स्वर्ग को भूतल पर उतारने के व्यवहारिक प्रयोग करते रहे और तीसरे, महामुनि लेनिन ने विश्वामित्र की भाति भूतल पर उसका नवनिर्माण करके ही आखिरी सांस लिया था। यही कारण है कि मार्क्सवाद कपोल कल्पनाओ का नही, जीवन का व्यावहारिक दर्शन है।

वह मनमाने ढग से विश्व के स्वरूप की विवेचना नही करता, बल्कि विश्व के स्वरूप तथा घटनाक्रम को प्रक्रिया के रूप मे देखकर, घटनाचक्र को अपने अनुकूल मोड देने की पद्धति पर विचार करता है। यह वैज्ञानिक चिन्तन परम्परा ही मार्क्स से यह घोषणा करवा सकी कि—"अब तक के सभी दार्शनिको ने विश्व की इस या उस दृष्टि से व्याख्या भर की है

जबकि असली सवाल उसे बदलने का था"

इसी आत्म विश्वास के साथ मार्क्सवाद प्रकृति और समाज के विकास के नियमों की खोज करता है। और अपना ऐतिहासिक अभियान छोड़ता हुआ चलता है।

हजारों-लाखो वर्षो में भी मानवजाति ने जो बौद्धिक प्रगति नही की है, वह अकेले सौ सवा-सौ वर्षों में कर डाली है। मार्क्सवाद वास्तव मे मानवजाति के सम्पूर्ण इतिहास में असाधारण बौद्धिक छलांग है। पूजीवाद ने चार सदियों में तथा समाजवाद ने केवल आधी सदी में उत्पादन के क्षेत्र में जो विकास किया है वह उस विकास की तुलना में हजारों गुना अधिक है जो विभिन्न व्यवस्थाओं में रह कर भी मानव जाति ने प्राप्त नही किया है। परन्तु बुद्धि और चिन्तन के क्षेत्र में मार्क्सवाद ने जो छलांग भरी है वह उसकी तुलना में भी अधिक और चमत्कार पूर्ण है। यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण नही है।

व्यक्तिगत जीवन से लेकर सम्पूर्ण मानवीय व्यवस्थाओं तक, पारिवारिक जीवन से लेकर संयुक्त राष्ट्रीय प्रशासन तक, चरखे और करघे से लेकर परमाणु शक्ति एवं अग्निवाणों तक, खुरपी से लेकर स्वयंचालित यंत्रों तथा कम्प्यूटरों तक, मानव समाज से लेकर अनन्त ब्रह्माण्ड पिण्डों तक, वह कौन सी समस्या है जिसके सम्बन्ध में मार्क्सवाद को कुछ न कुछ कहना नही है। यदि केवल कहना ही होता तो दूसरी बात थी। उसे चराचर जगत में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के सम्बन्ध में जिज्ञासा है और उसका समाधान प्रस्तुत करना है। परन्तु इतना ही होता तो भी एक बात थी। उसे प्रत्येक घटना के मूल कारण की खोज करनी है तथा इसके बाद घटनाओं को अनुकूल मोड़ देने का प्रयत्न भी करना है। पुराने दार्शनिकों की भांति उसे केवल विश्व की व्याख्या ही नही करनी है, बल्कि उसे बदलना भी है। परन्तु यह क्रान्तिकारी काम केवल व्यक्ति या समाज की इच्छाओं से होने वाला नही है। यह तभी हो सकता है जब हम स्वयं अपने सम्बन्ध में, अपने परिवेश के सम्बन्ध में और उससे जुड़ी

हुई लाखो-करोडो वस्तुओ तथा घटनाओ के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त करें। मार्क्सवाद ने मानव जाति के सामने विकास और आशाओ के ऐसे द्वार मुक्त कर दिये है जहा मानव न केवल धरती की अनुपम सौन्दर्यों तथा सुखो की भूमि बना सकता है बल्कि करोडो अश्वशक्ति के राकिटो (अग्नि बाणो) मे बैठकर लोक-लोकान्तो की विजय यात्रा पर भी निकल सकता है।

मार्क्सवाद को केवल राजनैतिक बगावतो का सिद्धान्त समझना भी भूल है। मार्क्सवाद प्रकृति और समाज मे परिवर्तनो तथा जीवन-मरण की सम्पूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक विचार करता है। यही कारण है कि मार्क्सवाद चराचर जगत मे घटित होने वाली घटनाओ के मूल रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न करता है। आगे के पृष्ठों में विस्तारपूर्वक प्रकृति के रहस्यो के सम्बन्ध मे विचार किया गया है। यहा सक्षेप मे कुछ ऐसी स्थापनाओ का उल्लेख करना आवश्यक है जिनके सम्बन्ध मे अगले पृष्ठो पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

हम चाहे जितने एकाकी और उदास क्यो न हो परन्तु वास्तव मे हम कभी एकाकी नही रहते और न रह सकते है। हमारे चारो ओर अनेक सूक्ष्म और स्थूल तथा अजैव और जैव काय घूमते रहते है। हमारा अस्तित्व उनके अस्तित्व पर ही निर्भर करता है।

ससार की प्रत्यक वस्तु विविधतापूर्ण, अनेक गुण-धर्मों से युक्त और रग-विरगी है। इनकी विशेषताओ पर आज से नही लाखो वर्षो से मानव जाति चकित होती रही है। ठीक समय पर सूर्योदय और सूर्यास्त खास ऋतुओ मे वर्षा और लूआ तथा सर्दियों का हमला एव किन्ही विशेष अवसरो पर विशेष फसलो का उगना और झड जाना मनुष्यो को सदा ही चकित करता रहा है। रग-विरगे फूल, उनकी विविध सुगन्धियो तथा पशु-पक्षियो के विविध रूपो और क्रियाकलापो ने हमे हमेशा ही पुलकित किया है।

मार्क्सवादी उसी वस्तु को ठोस या पदार्थ मानता है जिसका अस्तित्व

मनुष्य की चेतना मे पृथक एवं स्वतंत्र हो तथा जो अनेक विविधताओं के बावजूद अपने में कुछ न कुछ ऐसे सामान्य गुण धर्म रखता हो जो उसे अन्य पदार्थों और व्यापारों के साथ मिलकर अभिव्यक्त करते ही हैं। यदि कोई वस्तु या व्यापार भौतिक रूप से अपना अस्तित्व नहीं रखता, वह केवल काल्पनिक है तथा अपने क्रियाकलापों के द्वारा उसका वस्तुगत रूप नही पहचाना जा सकता तो मार्क्सवाद उसे पदार्थ मानने को तैयार नहीं है। हम किसी वस्तु या प्रक्रिया को अथवा वस्तुओं और व्यापारो के किसी समूह को पदार्थ नही कहते वल्कि उसकी वस्तुगत वास्तविकता ही उसे पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करती है। उसको इस वास्तविकता को ही हम परीक्षा की कसौटी पर रख सकते हैं न कि उसके किसी विशेष क्रियाकलाप को। उदाहरण के लिए, यदि हम चलती ट्रेन में बैठकर तेजी से दौड़ते खम्भों की गति का माप करते हैं तो गणना के आकड़े तब भी सही होगे जब हम ट्रेन को नही वल्कि पेड़ों को छोड़ता हुआ मानें। परन्तु ये आकड़े वस्तु के वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति नही करते। यदि वस्तुतः ट्रेन नहीं बल्कि पेड़ ही दौड़ते हैं तो प्रातः ६ बजे स्टेशन पर ट्रेन को नहीं वल्कि पेडो को पहुँचना चाहिए। ऐसा कभी होता नही। और यदि हम दौड़ते पेड़ों की कल्पना के आधार पर गति सम्बन्धी कोई खोज-बीन करते है तो गाल बजाने के अलावा किसी ठोस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते।

पदार्थ की धारणा ही वास्तव मे मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रेरित करती है और यदि हम पदार्थ या वस्तु को मिथ्या अथवा चेतना का प्रतिविम्ब मात्र मान बैठते हैं तो वैज्ञानिक खोजों की ओर से हमारा विमुख हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

लेनिन ने पदार्थ के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषा दी है :

"पदार्थ वस्तुगत यथार्थ का इंगित करने वाली एक दार्शनिक परि-कल्पना है जो मनुष्य को उसकी संवेदनाओं से प्राप्त होती है, और जो हमारी संवेदनाओ से स्वतंत्र रहते हुए उनके द्वारा अनुकृत, फोटोचित्रित

और प्रतिबिम्बित होती रहती है।"

(भौतिकवाद और अनुभव सिद्ध आलोचना)

लेनिन की यह पदार्थ सम्बन्धी धारणा हमे बताती है कि वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो वस्तु के स्वरूपो, उसके गुण-धर्मों के अध्ययन से प्रारम्भ करो न कि अपनी मनोगत धारणाओ और कपोल कल्पनाओ से। यह धारणा मस्तिष्क की उन असाधारण क्षमताओ की ओर भी सकेत करती है जिसमे वह विश्व की जटिल से जटिल समस्याओ तथा क्रिया-कलापो को फाटोचित्रित एव प्रतिबिम्बित कर सकता है और जो प्रकृति के अज्ञात एव गूढ रहस्यो का भेदन कर सकता है। और यदि एक बार हम यह मान लेते है कि पदार्थ ही आदि और अनन्त है, वह अजर और अमर है उसका चाहे जितना रूपान्तर कर दिया जाय वह किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहेगा ही तो किसी सृष्टिकर्त्ता की या ईश्वर की कल्पना ही कितनी तुच्छ एव उपहासास्पद हो जाती है ? यही कारण है कि उपनिषदो मे लेकर प्लेटो और बर्कले तक सभी दार्शनिको ने पदार्थ को अवास्तविक और तुच्छ साबित करने का प्रयत्न किया है। वे जानते है कि पदार्थ का खण्डन करके ही वे आत्मा या चेतना को सबसे ऊचे आसन पर महिमामण्डित कर सकते हैं तथा रहस्यो से भरी दुनिया को और भी गहन रहस्यो से ढक सकते हैं।

पदार्थ की धारणायें दो प्रकार की होती है। एक दार्शनिक तथा दूसरी वैज्ञानिक। दार्शनिक धारणा पदार्थ का वस्तुगत रूप मे मानव चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व म रहना है और इसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। परन्तु जहा तक वैज्ञानिक धारणा का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक खोजों के आधार पर इसम परिवर्तन हमेशा सम्भव होना है। उदाहरण के लिए १८वी सदी तक विज्ञान परमाणु को अखण्ड और सूक्ष्मतम तत्व के रूप मे स्वीकार करता रहा है। परन्तु १९वी सदी मे वैज्ञानिक खोजो के बाद पता चला कि परमाणु मे इलेक्ट्रोन नामक तत्व काम करते हैं और वह अन्तिम तथा सूक्ष्मतम इकाई नही माना जा सकता। इसके बाद क्या था—

अध्यात्मवादी पाखण्डियों ने शोर मचाना शुरू कर दिया। "देख लो, परमाणु अन्तिम इकाई नही रहा। उससे परे भी कुछ तत्व पाया गया है। उससे परे भी कुछ जरूर होगा और अन्त में तो महाशक्ति परमात्मा ही है। भौतिकवाद की अर्थी निकल गयी समझो, आदि।"

विज्ञान यह दावा कभी नहीं करता कि उसने मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान कर लिया है। इस दिशा में वह निरन्तर प्रयत्नशील है और सफलतायें प्राप्त करता जा रहा है। फिर भी विज्ञान की प्रत्येक असफलता को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिर पर लाठी की तरह इस्तेमाल करने में ये लोग कभी नही चूकते।

विज्ञान की नित्य नई खोजो से पदार्थ का खात्मा नही हो जाता बल्कि पदार्थ सम्बन्धी हमारे ज्ञान की सीमा रेखा आगे की ओर खिसकती रहती है। कल हमारे ज्ञान की सीमा रेखा परमाणु था। आज इलैक्ट्रोन है। और कल यदि हमारा ज्ञान अनुभवों से और भी अधिक समृद्ध हो जाएगा तब यह सीमा रेखा और अधिक आगे की ओर बढ़ जाएगी। इलैक्ट्रोन उतना ही नि:सीम है जितना कि परमाणु और प्रकृति नि:सीम है।

पदार्थ की गुणात्मक विविधता, उसकी बनावट और गुण धर्मों की नि:सीम विविधता के बारे में लेनिन के विचारों का विज्ञान निरन्तर समर्थन करता जाता है। जब हम विश्व की विविधताओं का कारण जानना चाहते है तब हमें द्रव्यों के वास्तविक गुणधर्मों और आकार-प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। वह प्रत्येक वस्तु द्रव्य है जिसकी यान्त्रिकी संहति, अथवा विराम संहति होती है। मानव के चारों ओर के सभी दृश्य पिण्ड द्रव्यात्मक होते हैं। इन पिण्डो में अणु होते हैं और अणुओं में परमाणु होते हैं। इन सभी में अत्यधिक विविधता रहती है। परमाणुओं की बनावट स्वयं बहुत जटिल होती है। उनमें प्रारम्भिक एवं मौलिक कण होते हैं।

वैज्ञानिक खोजों ने इसे सत्य प्रमाणित कर दिया है कि विश्व की कोई भी वस्तु और घटना स्थायी नही है। सभी कुछ बदलता रहता है। बुद्धि-

मान् लोग चकित रह जाते हैं कि प्रत्येक वस्तु इतनी तेजी से घुड़दौड क्यो लगा रही है और अपने विनाश तथा पुनर्जन्म के लिए इतनी उतावली क्यों है ? भारतीय दार्शनिक धर्मकीर्ति ने शायद इसीलिए कहा था कि— "पदार्थ तो स्वय चिल्ला-चिल्ला कर अपने आपको क्षण-भगुर और परिवर्तनशील बता रहे हैं। हम उन्हे कैसे कहे कि तुम चिरस्थायी एव अपरिवर्तनशील हो ?"

(स्वय विस्तार घो भावा मद्येते ननु के वयम् ?)

दुनिया की हर चीज बदल रही है। नये ब्रह्माण्डो की रचनाओं की भूमिकायें तैयार हो रही हैं और पुराने ब्रह्माण्डो का रूप बदल रहा है। सूर्य की ऊर्जा शक्ति मे परिवर्तन हो रहा है और नई ऊर्जा शक्तियो के अतुल भण्डार नये सिरे से मुक्त हो रहे हैं। मनुष्य ने परमाणु शक्ति का भेदन कर लिया है तथा विज्ञान और कारीगरी की नई उपलब्धियों के जरिये सौरमण्डल मे अपनी गतिविधि तेज कर दी है। चन्द्रलोक उसके अग्निवाणो की मार के अन्तर्गत है तथा सौरमण्डल के दूसरे नक्षत्रों की उसने सुसगत जानकारी प्राप्त करनी शुरू कर दी है।

मार्क्सवाद ने विश्व की इस चिरन्तन प्रक्रिया को समझने का एक अमोघ सैद्धान्तिक अस्त्र दिया है। विकास की प्रक्रिया एक मजिल से दूसरी मजिल तक, नीचे से ऊपर की ओर तथा अवनत से उन्नत दशा की ओर निरन्तर प्रगति करती रही है। प्रगति के अगली ओर बढते हुए कदम सर्पिल गति से निरन्तर आगे की ओर चल रहे है तथा पहले के मुकाबले मे दूसरा कदम कही अधिक गहन, सघन, समृद्ध और विविधता-पूर्ण होता है। द्वन्द्ववाद वस्तुओ और व्यापारो के अन्दर घटित होने वाले क्रिया कलापो तथा मूल कारणो की विवेचना करता है और उन प्रेरको का पता लगाता है जो परिवर्तन की इस क्रिया को दिशा एव निरन्तरता प्रदान करते रहते है।

मार्क्सवाद यह बताता है कि धरती पर जीवन धारण की प्रक्रिया के लिए पहले भी सूर्य ने पर्यावरण की भूमिका तैयार की थी और आज भी

वही अनुकूल पर्यावरण पैदा करता है। सौर ऊर्जा के असर से पौधों की हरी पत्तियों के क्लोरोफील में कार्बन-डाइ-आक्साइड विघटित हो जाती है। कार्बन को तो पौधा अपने में समा लेता है और आक्सीजन, जिसके बिना मनुष्य सांस नहीं ले सकता, वायु में मिल जाता है। परिणाम स्वरूप, कार्बनिक द्रव्य रसायनिक ऊर्जा के रूप में सौर ऊर्जा को जमा करते है जिसे मनुष्य उस समय प्रयोग में लाता है जब वह पौधों को भोजन या ईंधन के रूप मे इस्तेमाल करता है। हरी पत्ती वास्तव में वह परी है जो सूर्य-लोक से ऊर्जा को चुरा कर लाती है तथा पूरे वायुमण्डल में उसे उदारतापूर्वक बिखेर देती है। ऐसा करके वह सम्पूर्ण जीव जगत् को जीवन के साधन प्रदान करती है। वह सूर्य किरण की महिमा और अपरिमेय शक्ति ही तो है जो रसोईघर के चूल्हे से लेकर भीमकाय वाष्प इंजन तक और कलाकार की तूलिका से लेकर कवि की लेखिनी तक के लिए आवश्यक ऊर्जा का प्रबन्ध करती है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद किसी वस्तु विशेष और घटनाविशेष को उसके एकाकी रूप में कभी नहीं देखता बल्कि उन तमाम घटनाओ तथा वस्तुओ के समुच्चय के रूप में अध्ययन करता है जो उससे सम्बन्धित हैं, उससे प्रभावित होती है तथा उसे प्रभावित करती हैं। ज्ञान प्राप्त करने की यह विश्वसनीय मार्क्सवादी प्रणाली है।

अनन्त परन्तु सुनिश्चित नियमों द्वारा संचालित प्रकृति के साथ हमारा सदा ही गहरा सम्पर्क रहता है। यह गहराई उस श्रम के द्वारा सुनिश्चित होती है जब हम जीवनोपयोगी उत्पादन के लिए प्रकृति के साथ सम्पर्क में आते हैं। श्रम के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। इसलिए कि जीवन धारण के लिए सभी अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन श्रम के जरिये होता है। श्रम को अधिक से अधिक लाभदायक और निरापद बनाने के लिए एक ओर तो मनुष्य प्रकृति के नियमों को समझने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर श्रम के लिए जरूरी साधनों का निर्माण और विकास करता रहता है। श्रम करते समय मनुष्य यह जानकर आश्चर्य

म रह जाता है कि जो पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और यहा तक कि विरोधी प्रतीत होते है, उनम भी कुछ सामान्य नियम समान रूप से काम करते रहते है और उन सभी मे कुछ न कुछ अन्त सम्बन्ध बना रहता है।

भौतिक जगत की वस्तुओ और व्यापारो मे आन्तरिक और बाह्य दोनों ही अन्तर्विरोध विद्यमान रहते हैं। किन्तु स्वय वस्तु मे विद्यमान आन्तरिक अन्तर्विरोध ही प्रधान इसलिए होते है कि वह विकास के लिए निर्णायक हैं, वे विकास के मुख्य स्रोत हैं। मार्क्सवाद पदार्थ की स्वगति अर्थात उसकी आन्तरिक गति को ही गति मानता है जिसकी प्रेरक शक्तियाँ अथवा आवेग स्वय विकासशील वस्तुओ और व्यापारो के अन्दर निहित रहते है। पदार्थों की अन्योन्य क्रिया, तरग और कणिका सम्बन्धी गुणधर्म, आकर्षण और विकर्षण की शक्तियाँ, परिपाचन और विपाचन, उपचय तथा अपचय और शरीर तथा अन्य कार्यो मे विकास के स्रोत के रूप मे जो क्रियायें शास्वत चलती रहती हैं वे बाहर से पैदा नही की जाती बल्कि पदार्थ का स्वभाविक गुण धर्म हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पदार्थों के इन्ही आन्तरिक अन्तर्विरोधो का विविधतापूर्ण अध्ययन करता है और उनका वास्तविक स्वरूप समझने का प्रयत्न करता है।

आन्तरिक अन्तर्विरोध वस्तु के विकास के लिए मुख्य स्रोत इसीलिए माने जाते है कि वे स्वय वस्तु के रूप का निर्धारण करते हैं और वस्तु उनसे सर्वथा अभिन्न होती है। यदि ये आन्तरिक अन्तर्विरोध नही हैं तो यह मान लेना चाहिए कि वह वस्तु भी नही है। उदाहरण के लिए, जब हम परमाणु की चर्चा करते हैं तो अन्योन्य क्रिया के बिना, धन आवेशित नाभिक और ऋण आवेशित इलेक्ट्रोनो के सघर्ष के बिना न तो परमाणु का अस्तित्व माना जा सकता है और न उसकी जानकारी ही प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार, यदि हम शरीर की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो शरीर मे चलने वाली विभिन्न क्रियाओं, परिपाचन विपाचन और उपचय तथा अपचय की क्रियाओ की जानकारी के अभाव मे ऐसा नहीं

कर सकते।

किसी वस्तु पर पड़ने वाले सभी वाह्य प्रभाव सदा उसके अन्तर्निहित अन्तर्विरोध द्वारा निर्धारित होते हैं। सामाजिक विकास के स्रोत भी स्वयं समाज के अन्दर ही होते हैं और वाहर से उसे थोपा नहीं जा सकता। यही कारण है कि जब सामाजिक विकास की स्वाभाविक गति को रोक कर प्रतिक्रियावादी शक्तियां समाज को समाजवाद की ओर जाने से रोकती है और जबरदस्ती किसी प्रतिक्रियावादी आर्थिक ढांचे को समाज पर थोपती हैं तो वह ज्यादा दिनों तक नहीं चल पाता। अन्त में उसका पतन हो ही जाता है।

इसी प्रकार, यदि समाजवाद की स्थापना के लिए समाज की आन्तरिक प्रवृत्तियां अथवा आन्तरिक अन्तर्विरोध परिपक्व नहीं हैं और केवल कुछ लोग अपनी बौद्धिक तरंगों पर भूल कर समाजवाद की स्थापना का प्रयत्न करते है तो विफल हो जाते है। समाज अपने आन्तरिक अन्तर्विरोधों का ही अनुसरण करता है, किसी वाहरी व्यक्ति की इच्छाओं का नहीं। मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों में और अराजकतावादियों में यही मुख्य अन्तर है। मार्क्सवादी समाज को क्रान्ति के लिए तैयार करते हैं और इसीलिए कभी धैर्य नही खोते, जबकि अराजकतावादी, सामाजिक चेतना और परिस्थितियों की परवाह किये विना अपनी इच्छाओ को जबरदस्ती समाज पर थोपते हैं। वे असफल होने पर हिंसा तथा तोड-फोड़ का सहारा लेते हैं। ये लोग आसानी से प्रति-क्रान्ति की गोद मे जा बैठते हैं। पूरे ससार का यही अनुभव है।

कुछ लोग आन्तरिक अन्तर्विरोध को निर्णायक नहीं मानते वल्कि वाह्य अन्तर्विरोध को ही मुख्य मानते हैं। उनका कहना है कि मानवजाति प्रकृति की शक्तियों के साथ जीवन के लिए किया गया संघर्ष बाह्य अन्तर्विरोध है और यह स्वाभाविक तथा निर्णायक है। इसका स्वागत किया जाना चाहिए। परन्तु जहा तक मजदूर और पूंजीपति वर्ग या भूस्वामी और किसान वर्गों के बीच चलने वाले आन्तरिक संघर्षों का

सवाल है, इसे वे अस्वाभाविक और अनावश्यक मानते है। परन्तु जिस समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व है और उसके माध्यम से अन्य शोपक वर्ग बहुसख्यक शोषित वर्गों का शोषण करते है, वहा कठोर वर्ग सघर्ष न केवल शोषितो को सामाजिक न्याय दिलवाने के लिए आवश्यक है बल्कि सामाजिक प्रगति के लिए भी अनिवार्य है। जो सामाजिक बचतें और अर्जित निधि समाज के हाथो मे पहुँच कर भविष्य मे आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए महत्वपूर्ण विनियोग के काम आ सकती हैं, वे शोषणपूर्ण व्यवस्था मे पूजीपतियो की व्यक्तिगत ऐयाशी मे नष्ट होती रहती हैं। अत सामाजिक विकास के लिए आन्तरिक वर्ग सघर्ष अनिवार्य हो जाता है।

मार्क्सवाद का विकास

दर्शन और विज्ञान के रूप में मार्क्सवाद अचानक पैदा नहीं हुआ। वर्ग संघर्ष के विज्ञान के रूप में तथा प्रकृति और समाज के प्रति विश्व दृष्टिकोण के रूप में उसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। मजदूर वर्ग के महान् नेता और विचारक कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) तथा फ्रेडरिक एंगेल्स (१८२०-१८९५) मार्क्सवादी दर्शन के संस्थापक थे। परन्तु यह सोचना पूर्णतया अवैज्ञानिक है कि यह दर्शन उन असाधारण मेधावी महापुरुषों के मस्तिष्क का फल भर है। यह उस युग के विशेष लक्षणों का प्रतिफल एवं परिणाम है जिसमें महापुरुष पैदा हुए थे। ५०० वर्ष पहले की सामाजिक व ऐतिहासिक परिस्थितियों में पैदा होकर मार्क्स और एंगेल्स भी मार्क्सवाद को जन्म नहीं दे सकते थे।

१९वीं सदी के मध्य तक कुछ देशों में पूंजीवाद ने सामन्तवाद का स्थान ले लिया था। इससे पैदावार के साधनों में तथा पैदावार में अभूत-पूर्व प्रगति हुई।

पूंजीवाद ने ऐसे वर्ग को भी जन्म दिया जिसे भविष्य में पूंजीवाद का तख्ता पलटना था और समाजवाद की विजय-पताका फहरानी थी। वह था क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग। समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित और उन्नततम पैदावार के साधनों से काम लेने वाला सर्वहारा वर्ग अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पूंजीपतियों के खिलाफ कटुतम संघर्षों में लगा हुआ था। पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा का संघर्ष मानव इतिहास में सबसे कटु और सबसे स्पष्ट वर्ग संघर्ष था। मजदूर वर्ग बेहतर अवस्थाओं,

उच्चतर मजदूरी और अल्पतर कार्यकाल के लिए लगातार सघर्ष कर रहा था। परन्तु उसके सघर्ष असगठित और स्वय-स्फूर्त थे। मजदूरो को यह भी पता नही था कि उनके सघर्षों का अन्तिम लक्ष्य क्या है और उनके सघर्ष उन्हें किस मजिल की ओर अग्रसर कर रहे हैं। उन्हे यह भी पता नही था कि किन उपायो का सहारा लेकर वे अपने वर्ग शत्रु को पछाड सकते है।

प्रत्येक बडे सघर्ष मे मिलने वाली असफलता से निराश होने के बजाय वे यह सोचने को बाध्य थे कि पराजय का कारण क्या है तथा वर्ग शत्रु विजयी कैसे हो जाता है? इस उधेडबुन मे उन्हे पूजीपतियो के 'शास्त्र' के मुकाबले म अपने 'शास्त्र' की आवश्यकता अनुभव होती थी जो उन्हे यह बता दे कि सामाजिक विकास के नियम क्या है, पूजीवाद कैसे सामन्तवाद को पछाड सका और वे स्वय भी वर्ग शत्रु को किस तरह पछाड सकते है?

इस प्रकार, वर्ग सघर्षों के मध्य सर्वहारा वर्ग को अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। उसने यह समझ लिया कि यही वह सामाजिक शक्ति है जो अन्त मे पूजीवाद की कब्र खोदेगी और समाजवाद की स्थापना करेगी। सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन ने स्वय ही उस दर्शन का विकास कर दिया, जिसने पूजीवाद के विरुद्ध तथा समाजवाद की स्थापना के लिए सघर्ष को दिशा प्रदान की।

इतिहास ने मार्क्स और एगेल्स की लेखिनी एव प्रतिभा को वह अवसर प्रदान किया जिसमे मार्क्सवाद निखर कर सामने आया और इन दोनो महापुरुषो को अमर बना दिया। मार्क्सवादी दर्शन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकता के विकास की यही पृष्ठभूमि है।

परन्तु सर्वहारा के वर्ग सघर्षो के अलावा यदि प्राकृतिक विज्ञान, जीवशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, रसायनशास्त्र एव दार्शनिक चिन्तन परम्पराओ मे पुरानी रूढिया तोड देने वाली खोजें तथा अनुसधान न हुए होते तो भी मार्क्सवादी दर्शन का विकास न हो पाता। १६वी सदी म प्राकृतिक विज्ञान ने असाधारण उन्नति की। विश्व की उत्पत्ति सम्बन्धी नयी कल्पनाओं ने पुराने अन्ध विश्वासों की दीवार ढा दी। अब पृथ्वी और

सौरमण्डल चिरन्तन नहीं रह गये थे बल्कि पदार्थ के दीर्घकालीन विकास के परिणाम भर थे। इसके बाद भूगर्भ विज्ञान का आविष्कार हुआ जिसके अनुसार पृथ्वी की परतों का अध्ययन करके बहुत से छिपे हुए रहस्यों का पता लगाया जाने लगा।

इसी प्रकार, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीवशास्त्र तथा पदार्थ विज्ञान ने एक के बाद दूसरे प्राकृतिक नियमों को खोज-खोज कर प्रकट करना शुरू कर दिया।

इस बीच में प्राकृतिक विज्ञान में तीन महत्वपूर्ण खोजें हुईं जिनका मार्क्सवाद के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा। पहली ऊर्जा के संधारण और परिवर्तन के नियम की खोज। दूसरी, जीवित शरीर की कोशिकाओं की संरचना के सिद्धान्त का पता लगाया जाना और तीसरी, डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त का आविष्कार।

ऊर्जा के संधारण की खोज तीन अलग-अलग वैज्ञानिकों ने अलग-अलग काम करते हुए की थी। वे थे रूस के लोमोनोसोव, जर्मनी के मायेर और ब्रिटेन के जूल। इस सिद्धान्त के उदय के बाद विश्व की भौतिक एकता एवं पदार्थ और गति की अनश्वरता के सम्बन्ध में सन्देह करना कठिन हो गया। इसी से इस सिद्धान्त की भी खोज हो गयी कि पदार्थ और गति गुणात्मक रूप से विविधतापूर्ण हैं, परिवर्तनशील है और एक रूप का अन्य रूप में सन्तरण सम्भव है।

इसी प्रकार, जीवित ऊतकों की कोशिकीय सरचना के सिद्धान्त की स्थापना भी विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों ने अलग-अलग की थी। रूसी वनस्पति विज्ञानवेत्ता गोपोनिकोव, चेक वनस्पति शास्त्री पुर्किने तथा जर्मन वैज्ञानिक श्लेडेन और स्वान ने इसका विकास किया था। प्रत्येक जीवित एवं जटिल प्राणी की बुनियाद एक भौतिक तत्व पर टिकी होती है जिसे कोश कहते है। उन्होंने बताया कि कोश परिवर्तनशील है और इसी आधार पर जीवों के विकास की सही समझ हासिल होने की राह मिलती है।

महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने इन अन्ध-विश्वासों का

सदा के लिये अन्त कर दिया कि वनस्पतियो और पशु पक्षियो की जातिया आकस्मिक एव अकारण हैं, उनका किसी चीज से सम्बन्ध नही, उन्हे ईश्वर ने बनाया है और वे अपरिवर्तनशील हैं। उन्होंने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि जटिल और उच्चतर जीव सरल तथा निम्नतर जीवो से बने है। वे दैवी इच्छा द्वारा नही बल्कि स्वय प्रकृति मे निहित प्राकृतिक प्रवरण के नियमो की क्रिया से निर्मित हुए हैं। डार्विन ने यह भी सिद्ध किया कि स्वय मनुष्य भी जीवित पदार्थ के दीर्घ-विकास का फल है। इस सिद्धान्त ने द्वन्द्वात्मकता के सिद्धान्त की अर्थात् निम्नतर तथा सरल से सरल जीवन के विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला।

मार्क्सवाद की विशेषता

इस समय सामन्तवादी और पूजीवादी विचारधाराओ का दीवाला निकल चुका है। वे विश्व जनमत को प्रेरणा देने मे असमर्थ हैं। एक समस्या का समाधान हो जाता है तो दूसरी दस जटिल समस्यायें नयी खडी हो जाती हैं, जिनका कोई समाधान नही मिल पाता। परन्तु मार्क्सवाद ऐसी विचारधारा है जो साफ-सुथरी और उलझनों से दूर है। विज्ञान की प्रत्येक खोज उसकी सत्यता प्रमाणित करती है। वह आज की समस्याओ पर न केवल गम्भीरता से विचार करता या समाधान पेश करता है बल्कि भविष्य के लिए मार्ग दिखाता है। यह दावा दो बातों से पुष्ट होता है। एक तो पूरे ससार के सामन्तवादी, पूजीवादी और सभी प्रतिक्रियावादी मार्क्सवाद को ही अपना मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मानते हैं, अपने मतभेदो को भुला कर मार्क्सवाद पर कीचड उछालने के लिए एक हो जाते है। दूसरे, सामन्तवाद तथा पूजीवाद के घेरे को तोडने मे मानव-जाति ने जब सबसे पहली सफलता प्राप्त की तब उसके हाथो मे मार्क्सवाद का ही झण्डा था। यह सोवियत सघ मे १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति मे देखा गया।

परन्तु हमे यह नही मान लेना चाहिए कि ससार मे इस समय केवल दो ही विचारधारायें हैं—अर्थात् मार्क्सवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी

विचारधारा और क्रान्तिकारी मार्क्सवादी विचारधारा। एक तीसरी विचारधारा भी है जो बनावटी मार्क्सवाद की है और व्यवहार में प्रतिक्रियावादी है। इस प्रतिक्रियावादी विचारधारा का निराकरण संघर्षों की अग्निपरीक्षा और अनुभवों की कसौटी पर होता है।

मार्क्सवाद के सम्बन्ध मे यह धारणा भ्रामक है कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की रचनाओं के अध्ययन मात्र से मार्क्सवाद का ज्ञान हो जाता है। यह तो आवश्यक है ही, परन्तु इसके साथ वर्ग जागरूक सर्वहारा वर्ग के मुक्ति संघर्षों में सक्रिय भाग लेने से मार्क्सवाद का वास्तविक बोध होता है। मार्क्सवाद एक ही समय पर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों हैं। लेनिन का यह विश्व-विख्यात मुहावरा कि क्रान्तिकारी आन्दोलन क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना नही चलता, का साथ ही यह भी अर्थ है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त क्रान्तिकारी आन्दोलन के बिना नहीं चलता। यह सिद्धान्त समाज की भाति व्यक्तियों पर भी लागू होता है। जो लोग क्रान्तिकारी आन्दोलनों मे भाग नही लेते वे केवल पुस्तकें पढ़-पढ़ कर मार्क्सवाद के पण्डित नही हो सकते।

आम तौर पर क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेना ही वह अग्नि परीक्षा है जिसमें बनावटी मार्क्सवादी पाण्डित्य का भाडा-फोड़ हो जाता है और खरा पाण्डित्य निखर कर सामने आ जाता है।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि केवल आन्दोलनों में भाग लेने मात्र से कोई व्यक्ति अच्छा मार्क्सवादी हो सकता है। इसके लिए मार्क्सवाद के तीनों संस्थापकों के ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन प्रत्येक अवस्था मे अनिवार्य है। केवल व्यावहारिक ज्ञान हमें खरा मार्क्सवादी नही बनाता।

जब हमसे यह प्रश्न पूछा जाता है कि मार्क्सवाद क्या है तब आम तौर पर झूठे मार्क्सवादी इस प्रकार के उत्तर देते हैं कि जिसमे मार्क्सवाद के किसी एक ही पक्ष या दृष्टिकोण पर बल दिया जाता है। उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक या आध्यात्मिक मत पर एकांगी जोर देना ठीक नही है। मार्क्सवाद प्रकृति और समाज के प्रति एक विशेष

प्रकार के चिन्तन तथा दृष्टिकोण का नाम है और यह दृष्टिकोण एकागी नही बल्कि सर्वांगीण है। उदाहरण के लिए, कोई आदमी समाजवाद या साम्यवाद को ही मार्क्सवाद कहकर पुकार सकता है। वह राज्यहीन या अनीश्वरवाद को मार्क्सवाद कह सकता है। परन्तु ये सब एकागी धारणायें हैं। मार्क्सवाद को विश्व की रचना, उसके विकास और मरण से लेकर विश्व तथा व्यक्तियो की छोटी से छोटी घटनाओ तथा हिताहितो के सम्बन्ध मे कहना है। वह केवल निर्णायक रूप मे कहता ही कहता नही है बल्कि विश्व एव समाज को बदलता भी है। बदलने के लिए वह विश्व समाज की विवेचना करता है। इस प्रकार, मार्क्सवाद एक नया विश्व-दृष्टिकोण है। मार्क्सवाद अनुमानित तीरदाजी करने वाला सिद्धात नही और न ही वह रहस्यवादी वेदान्त है। वह प्रकृति और समाज के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी स्वरूप का प्रतिपादक दर्शन है जिसमे किसी कपोल या रहस्यवादी वितण्डावाद की कोई गुजाइश नही है।

इसके अलावा, मार्क्सवाद और दूसरे दर्शनो मे मुख्य अन्तर उसका विश्व दृष्टिकोण होना ही नही है। वह तो प्राय सभी या बहुत से दर्शनो का है। इसकी मुख्य विशेषता विश्व और समाज को बदलना है। और इसीलिए यह दर्शन केवल स्वाध्याय मण्डल न होकर परिवर्तन का दर्शन है। इसी के लिए लेनिन ने मार्क्सवाद की व्याख्या करते हुए उसके तीन आधारभूत सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया है। वे है—दर्शन, अर्थशास्त्र और समाजवाद। परन्तु ये तीनो साथ-साथ या एक-एककरके मार्क्सवाद नही है। ये सब मिलकर मार्क्सवाद हैं। समाज के सम्बन्ध मे आर्थिक ढाचे को ही उसका मूलाधार माना गया है। इसीलिए, मार्क्स ने अपनी ऐतिहासिक रचना 'पूजी' मे सबसे अधिक जोर उत्पादन की आर्थिक पद्धति पर ही दिया है।

परन्तु उत्पादन की आर्थिक पद्धति की विवेचना मार्क्सवाद केवल अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से नही करता। उसके सामने मुख्य समस्या राजनैतिक, राज्यसत्ता और वर्ग सघर्ष की ही रहती है जिसके द्वारा सर्वहारा

स्वयं को तथा पूरी मानव जाति को पूंजी की दासता से मुक्त करता है।

यद्यपि यह सही है, जैसा कि पहले खण्ड में कहा जा चुका है, मार्क्सवाद को तोड़-मरोड़ कर पेश करना या उसे बदनाम करना आज के प्रतिक्रियावादियों का मुख्य सैद्धान्तिक हथियार बन गया है। हम उन विवादों में न पड़कर केवल इतना कहना चाहते हैं कि मार्क्सवाद एक आर्थिक दृष्टिकोण का सिद्धान्त है। यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आलोचक है और आर्थिक विकास के नियमों की खोजबीन करता है। फिर पूंजीवाद क्या है? वह ऐसी उत्पादन प्रणाली है जिसमें सर्वहारा और आम जनता का शोषण किया जाता है। इसमें अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है जिसे पूंजीपति मुनाफा कहकर पुकारता है। पूंजीवाद चाहे जिस रूप में सामने आये और चाहे जो आकार धारण करे, उसके इस मौलिक रूप में कोई भी अन्तर पैदा नहीं होता। मार्क्स ने पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के नियमों का पता यह सोचकर नहीं लगाया कि एक वैज्ञानिक खोज के लिए ऐसा करना आवश्यक था। सर्वहारा वर्ग को पूंजीवाद का तख्ता उलटने की शिक्षा देने के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

संसार में पहली बार जब सोवियत-संघ में पूंजीवाद उखाड़ कर फेंका गया और अभूतपूर्व तीव्रता के साथ वहां आर्थिक शक्तियों का विकास हुआ तो विश्व को यह समझने में देर नहीं लगी कि अतिरिक्त मूल्य या मुनाफा आर्थिक शक्तियों के विकास में कितनी बड़ी बाधा है? मानव समाज के इतिहास की विवेचना भी मार्क्सवाद आर्थिक शक्तियों के विकास के आधार पर ही करता है।

परन्तु मार्क्स और एंगेल्स की शिक्षाओं में यदि लेनिन के योगदान की उपेक्षा कर दी जाती है तो पूंजीवादी विचारकों के लिए मार्क्सवाद में तोड़मरोड़ पैदा करने की बाढ़ को रोका नहीं जा सकता। इसीलिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नाम से उसे पुकारा जाता है। परन्तु अज्ञानतापूर्वक कुछ लोग मार्क्सवाद-लेनिनवाद को इस तरह प्रस्तुत करते हैं— मार्क्स और एंगेल्स तथा उनका दर्शन मार्क्सवाद। लेनिन और लेनिन

मार्क्सवाद-लेनिनवाद। यह परले सिरे का बेहूदापन है। इसमे सन्देह नही है कि लेनिन का मार्क्सवाद में सबसे बडा योगदान है। और मार्क्स तथा एगेल्स की भाति ही वे मार्क्सवाद के प्रामाणिक महर्षि माने जाते हैं। परन्तु इसके बावजूद लेनिन जीवनपर्यन्त अपने आपको मार्क्सवादी कहते रहे और अपने आपको उनका अनुयायी बताते रहे।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भाति ही कुछ लोग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद को भी तोड मरोड कर पेश करते है। उदाहरण के लिए, ऐतिहासिक भौतिकवाद को हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मुकाबले मे खडा नही कर सकते। इसलिए कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद का विश्व दृष्टिकोण कह कर पुकारा जाता है। परन्तु विश्व का अभिप्राय प्रकृति और समाज दोनो से है। इसलिए जब हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चर्चा करते हैं तो प्रकृति और समाज मे काम करने वाले नियमो के सम्बन्ध मे बात करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जब हम मार्क्सवाद का प्रकृति पर लागू करते हैं तो वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और जब हम उसे सामाजिक विज्ञान के रूप मे प्रयोग मे लाते हैं तो वह ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है।

मार्क्सवाद की सबसे बडी विशेषता उसके विश्व दृष्टिकोण और सिद्धान्त में एकरूपता है। सबसे पहले वह प्रकृति और समाज के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। दूसरे, वह समाज के विकास सम्बन्धी नियमो का सार समझने का प्रयास करता है। वह उन भौतिक परिस्थितियो का अध्ययन करता है जो उसे गति देते हैं और नियामक है। तीसरे, वह पूजीवादी समाज के चौखटे मे सर्वहारा वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका का अध्ययन करता है और नये समाज के उन लक्षणो का अध्ययन करता है जो सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के उपरान्त उदय होते हैं।

इसी सैद्धान्तिक समझ का यह फल है कि पूजीवादी व्यवस्था से संघर्ष करने वाला प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि पूजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना मार्क्सवाद की इतिहाससम्मत परम्परा है।

आवागमन का सिद्धान्त

भारतीय दार्शनिकों ने आवागमन का सिद्धान्त केवल आत्मा के साथ जोड़ा है। उनका कहना है कि कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में बार-बार जन्म लेता है, बार-बार आता है और बार-बार जाता है। जब उसे वास्तविक बोध हो जाता है, संसार को माया अथवा असत्य समझ लेता है तो मुक्त हो जाता है, वह दुबारा जन्म नहीं लेता। वह आवागमन के चक्कर से निकल जाता है। भारत के सभी आस्तिक दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य यही माना है कि मानव को मुक्त कर दे। सब दार्शनिकों में यही होड़ रही है कि मुक्ति दिलाने का किसका मार्ग आसान और सही है। इस प्रकार, ये दार्शनिक जीवन के बाद की समस्याओं पर विचार करते रहे, जीवन की समस्याओं पर नहीं। अतः सभी प्रसिद्ध भारतीय दर्शन जीवन के नहीं, प्रत्युत् मृत्यु के दर्शन है।

ये दार्शनिक आत्मा को नित्य मानते थे और इसीलिए उसके जीवन-मरण का नाम उन्होंने आवागमन रखा था। परन्तु कितना अच्छा होता यदि वे प्रकृति एवं मूल तत्वों को भी नित्य मान लेते और उनके विनाश तथा जन्म को आवागमन के नाम से पुकारते ! यह बात सच्चाई के अधिक नजदीक होती जब कि पहली बात का सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन और आधुनिक विज्ञान के अनुसार द्रव्यों के अणु और मूल तत्व नित्य हैं। वे कभी नष्ट नहीं होते। जिसे उनका विनाश समझा जाता है, वह वास्तव में विनाश नहीं है, बल्कि उनका रूपान्तरण

है यानी एक रूप के स्थान पर दूसरा रूप अपना लेना है।

इन भारतीय दार्शनिको के अनुसार जैसे आत्मा मनुष्य, घोडा, खरगोश और भैंस आदि की योनियो मे जन्म लेकर भी एक ही रहती है, उसी भाति नित्य तत्वो का कभी विनाश नही होता। वे एक रूप का परित्याग करके दूसरे रूप मे चले जाते हैं। जैसे जल दो तत्वो के मिलने से बनता है। वह स्वतत्र पदार्थ नही है। हाइड्रोजन और आक्सीजन के विशिष्ट सयोग से उसकी रचना होती है। इन दोनो तत्वो के अलग कर देने से जल नष्ट हो जाता है। परन्तु जल के दो दूसरे रूप हाईड्रोजन और आक्सीजन नष्ट नही होते। वे बने रहते हैं। केवल जल का रूप बदल जाता है। परन्तु कहानी का यही अन्त नही हो जाता है। हाईड्रोजन और आक्सीजन मूलतत्व होते हुए भी बदले जा सकते हैं और बदले जाते हैं। हाईड्रोजन को आक्सीजन के रूप मे और उसे हाईड्रोजन के रूप मे बदला जा सकता है। केवल रहस्य इतना जानना जरूरी है कि जिस रासायनिक प्रक्रिया से जल का रूपान्तर होता है, वह प्रक्रिया हाईड्रोजन के परमाणुओ को जब आक्सीजन के परमाणुओ मे बदले जाने के लिए प्रयोग मे लाई जाती है तो पहले की भाति आसान नही रहती, वह जटिल हो जाती है।

अतएव, जैसे आत्मवादी दार्शनिक आत्मा को नित्य मान कर जन्म-मरण को आवागमन के नाम से पुकारते हैं, उसी तरह, मार्क्सवादी मूल प्रकृति को नित्य मानते हैं और वस्तुओ के जन्म तथा मरण को उनके रूप का बदला जाना, रूपान्तर या आवागमन मानते है। किसी भी वस्तु का विनाश नही होता और ससार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जो बदलता नहीं, उसका जन्म ही अब तक नही हुआ।

जहा तक आत्मा का सम्बन्ध है उसके बारे मे काफी कहा जा चुका है और उसके "स्वाभाविक" गुणो के सम्बन्ध मे आगे के अध्यायो म कहा जाने वाला है। -

परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन

हम अपनी ही आंखों के सामने एक वस्तु से दूसरी वस्तु का निर्माण देखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे निरन्तर दौड़-धूप और उथल-पुथल मे लीन प्रकृति और उसका छोटे से छोटे मूल तत्व कहीं थमने का नाम ही नहीं लेते है और पूरा संसार तथा ब्रह्माण्ड उत्पादन एवं विनाश की अनन्त लीला में फंसा हुआ है। उत्पाद-विनाश की इस अन्तहीन तथा *"उच्छृङ्खल"* *लीला में चाहे जितनी उच्छृङ्खलता एवं नियमहीनता* प्रतीत होती हो, परन्तु एक अटूट नियम सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, वह है परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन। यह भौतिक जगत् के विकास का अखण्ड एवं सार्वजनिक नियम है और इसमें किसी अपवाद के ढूंढ़ने की आशा निरर्थक है।

इतना ही नहीं, द्रव्यों की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में सन्तरण की प्रक्रिया भी परिमाणात्मक परिवर्तन से ही तय होती है। जैसे एक ही वस्तु के ठोस रूप के स्थान पर द्रव्य रूप में तथा उसके बाद वाष्प या गैस के रूप मे बदल जाने की प्रक्रिया परिमाणात्मक परिवर्तन के बाद ही सम्भव होती है। वस्तु से दूसरी वस्तु बनते ही उसके गुण धर्म भी बदल जाते हैं। जैसे पानी में नमक या चीना घुल जाती है परन्तु उसी से *बने बर्फ या भाप में वे नहीं घुलते।*

यह परिवर्तन रासायनिक प्रक्रियाओं में ज्यादा आसानी के साथ देखा जा सकता है। *रासायनिक तत्वों के गुण उनके परमाणुओं के अन्तरनाभिकीय घन-आवेश की मात्रा (परिमाण) पर निर्भर करते हैं। यदि विशेष सीमा तक ही अन्तर्नाभिकीय आवेश में परिमाणात्मक परिवर्तन होता है तो उसमें किसी प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में निर्माण नहीं होता। परन्तु जब परिमाणात्मक परिवर्तन एक निश्चित सीमा से आगे बढ़ जाता है तो पुरानी वस्तु के गर्भ से नई वस्तु का जन्म होता है—इसे गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं।'*

उदाहरण के लिए-रेडियो सक्रिय विघटन के दौरान यूरेनियम नाभिक जैसे-जैसे पारमाणविक भार और आवेश खोता जाता है वैसे-वैसे वह गुणात्मक रूप से नये तत्व मे बदलता जाता है। यह सीसे के रूप मे बदल जाता है। सामान्यतया, रसायनशास्त्र वह विज्ञान शास्त्र है जिससे हम वस्तुओ पर परिमाणात्मक परिवर्तनो के प्रभाव तथा उनसे गुणात्मक परिवर्तनो के रूप का अध्ययन करते हैं। उदाहरण के रूप मे, आक्सीजन के अणु को लीजिए। उसमे दो परमाणु होते हैं। परन्तु यदि उसमे आक्सीजन का ही एक और अर्थात् तीसरा परमाणु जोड दिया जाए तो एक नया मूलतत्व अर्थात् परमाणु पैदा हो जाता है जिसे ओजोन कहते हैं। यह गुणात्मक रूप से आक्सीजन से सर्वथा भिन्न पदार्थ है।

जो बात अजीव पदार्थो पर लागू होती है, वही जीव जगत् पर भी लागू होती है। यह बात दूसरी है कि यहा प्रत्येक प्रक्रिया अधिक जटिल होती है और उसका विवेचन अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है।

सामाजिक विकास की विशेष अवस्थाओ मे भी परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन होते हैं। ये हैं पूजीवाद के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियो मे वृद्धि, उत्पादन के सामाजिक स्वरूप का विस्तार और क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओ की सख्या मे विशेष वृद्धि आदि।

सामाजिक क्रान्तियो मे भी हम परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन देखते हैं। जैसे पूजीवादी शोषण और नौकरशाही के दमन के खिलाफ दो हजार मजदूर प्रदर्शन करते हैं। कुछ जेल मे जाते हैं। प्रदर्शनकारियो की अधिकाश मागें नामजूर हो जाती हैं, परन्तु एक-आध मान ली जाती है। कुछ दिन के बाद फिर प्रदर्शन होता है जिसमे १० हजार मजदूर हिस्सा लेते हैं और गैर-मजदूर जनता सघर्ष से सहानुभूति करती है। इसी प्रकार, आन्दोलन का विस्तार होता रहता है। छोटा असन्तोष छोटा सघर्ष लाता है। अन्त मे असन्तोष फैलता है। न केवल मजदूर वर्ग प्रत्युत् ६० प्रतिशत जनता पूजीवाद के विरुद्ध सघर्ष करती है। छोटे-बडे सघर्षों के तीखे प्रभाव को जब पूजीवादी ढाचा सहन नही

कर पाता तो वह टूट जाता है, संघर्षों के परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है– पूंजीवाद से समाजवाद में सन्तरण हो जाता है।

इस प्रकार, परिमाणात्मक और गुणात्मक परिवर्तन एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

परिमाणात्मक परिवर्तन क्रमशः और धीरे-धीरे होता है। परन्तु गुणात्मक परिवर्तन मडूक प्लुति से अर्थात् मेंढ़क की भांति छलांग मार कर होता है। उदाहरण के लिए, पानी में से गरमी धीरे-धीरे समाप्त होती है परन्तु जमने के बिन्दु पर पहुँचने के बाद पानी जब हिम (बर्फ) के रूप मे बदलता है तो यह बदलना धीरे-धीरे नहीं होता बल्कि पानी अचानक बर्फ या भाप बन जाता है।

भौतिक जगत् के विकास मे छलांगों के कुछ उदाहरण हैं। जैसे-मौलिक कणों से किन्ही अन्य मौलिक कणों का रूपान्तरित होना; द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन होना, किसी नये रासायनिक तत्व का जन्म लेना, वनस्पति या जीव की किसी ऐसी प्रजाति का पैदा होना जो पहले कभी नही रही हो या किसी नई सामाजिक अवस्था का आविर्भाव आदि। छलांग से पुराने का नाश होता है और नूतन तथा प्रगतिशील का विकास होता है। इसलिए, छलांग का भौतिक जीवन और सामाजिकपरिवर्तनो मे भारी महत्व होता है।

विकास परिमाणात्मक (अविराम) और गुणात्मक (छलांग) जैसे परिवर्तनों की एकता के रूप में प्रकट होता है, इसलिए, सिद्धान्त और व्यवहार में विकास की इन दोनों मंजिलो का लेखा लेना आवश्यक है और यह मानना भी कि इन दोनों को एक दूसरे से पृथक नही किया जा सकता।

कुछ आदिभौतिक दार्शनिक परिमाणात्मक परिवर्तन को तो मानते हैं, परन्तु गुणात्मक परिवर्तन (छलांग) को नही मानते। उनका कहना है कि गर्भाशय में स्थित भ्रूण पहले से ही विकसित एवं परिपक्व शरीर

होता है। वह सूक्ष्म होता है और धीरे धीरे वह बडा आकार धारण कर लेता है। परन्तु शरीर विज्ञान इस धारणा को असगत मानता है। इसलिए कि जन्म लेने के पहले भ्रूण मे अनेक बार गुणात्मक परिवर्तन होते हैं और पूर्ण शरीर के रूप मे भ्रूण का विकास कई महीनो मे जाकर पूरा होता है। इस सिद्धान्त को न मानने वाले सामाजिक क्रान्तियो का औचित्य स्वीकार नही करते और वे यह मानते है कि हजारो साल से समाज क्रमिक उन्नति करता आ रहा है और करता रहेगा तथा क्रमिक सामाजिक उन्नति के मार्ग मे ऐसी विशेष बाधायें नही आती जिन्हे दूर करने के लिए कोई क्रान्ति जरूरी होती हो। ये क्रमिक विकासवादी समाज को सर्प की गति से ही चलता हुआ मानते हैं। मडूक प्लुति, मेढक की छलाग को नही देखते जब समाज क्रान्ति की एक ही छलाग मे कई सौ कोश की दूरी पार कर लेता है। छलाग न देखना सुधारवादी भटकाव है।

इसी प्रकार, कुछ दार्शनिक परिमाणात्मक परिवर्तन से इन्कार करते है। उनका कहना है कि पूरी प्रकृति और समाज मे छलाग, उछल कूद और क्रान्तियो की ही भरमार है। सब कुछ हर समय नष्ट होता और बनता है। इस धरती पर पता नही कितनी बार उत्क्रान्तिया हुई, कितनी बार जीव जातिया पैदा हुई और नष्ट हुई तथा पहली का दूसरी जाति से कोई सरोकार नही रहा। इस सिद्धान्त मे से अराजकतावाद एव दु साहसिक सकीर्णतावाद का उदय होता है जिसका मार्क्सवाद से कोई सरोकार नही है और लेनिन ने जिसका सख्त विरोध किया है। अराजकतावादी मानते हैं कि क्रान्ति की सफलता के लिए सामाजिक चेतना तथा शक्ति का उदय होना जरूरा नही है। उसके लिए कुछ क्रान्तिकारियो का जत्थेबन्द हो जाना तथा मरने-मारने पर आमादा हो जाना ही पर्याप्त है। इससे पड्यन्त्रकारी आतकवाद एव सकीर्णतावादी दु साहस का जन्म होता है जो क्रान्ति का घोर शत्रु बन जाता है।

इस प्रकार, परिमाण और गुण ऐसी निश्चित विशेषतायें हैं जो सभी वस्तुओ तथा व्यापारो मे एक साथ घिरी हुई हैं। परिमाण और गुण एक-

दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। विकास की प्रक्रिया में परिमाणात्मक परिवर्तन अव्यक्त एवं क्रमिक परिवर्तन के रूप में सामने आता है जिससे वस्तु का गुणात्मक परिवर्तन में गमन होता है और वह मौलिक रूप से भिन्न वस्तु के रूप में सम्मुख आती है। यह गमन छलांग का रूप धारण करता है।

पुराने से नये में सन्तरण की विविधता

परिमाण से गुण का बदलना सदा एक ही रूप में नहीं होता और न यही कहना उचित होगा कि गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन इन विविधताओं का अध्ययन करने पर बहुत जोर देता है। इसी प्रकार, परिमाण की भांति गुण का परिवर्तन भी कुछ क्षेत्रों में क्रमिक होता है। उदाहरण के लिए, रूस में समाजवादी क्रान्ति ने एक ही झटके में पूंजीवादी राज सत्ता और अर्थ व्यवस्था चकनाचूर कर दी। इसी प्रकार, पूंजीवादी संस्कृति के स्थान पर नई समाजवादी संस्कृति की क्रान्ति भी एक छलांग थी। परन्तु यह क्रान्ति एकबारगी नहीं हुई, बल्कि क्रमिक रूप में हुई और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अंगों के विकास के साथ-साथ उसका विकास हुआ। इस सांस्कृतिक क्रान्ति की चरम परिणति कम्युनिस्ट समाज के भरपूर निर्माण के काल में सामने आएगी।

समाजवाद से साम्यवाद में सन्तरण के युग में छलांग

जैसे पूंजीवाद से समाजवाद में सन्तरण सामाजिक क्रान्ति अर्थात् छलांग के जरिये होता है, उसी भांति समाजवाद से साम्यवाद में सन्तरण के युग में भी क्या इसी प्रकार छलांग भरी क्रान्ति की आवश्यकता होती है?

समाजवाद और साम्यवाद एक ही सामाजिक आर्थिक विरचना की दो मंजिलें हैं। इन मंजिलों में उत्पादन साधनों पर सामाजिक स्वामित्व समान रूप से विद्यमान रहता है और शोषण करने वाला कोई वर्ग नहीं

रहता जिसे सत्ता विहीन करने के लिए किसी क्रान्ति की अनिवार्यता होती हो। इन दोनों मे अन्तर इतना होता है कि दूसरी व्यवस्था मे पैदावार के साधन अत्यधिक उन्नत हो जाते हैं, आटोमेशन के कारण आदमी की उत्पादन क्षमता बहुत बढ जाती है जिससे समृद्ध समाज अपने सदस्यो की सभी उचित आवश्यकतायें पूरी करने की गारटी दे देता है।

यही कारण है कि समाजवाद से साम्यवाद मे सन्तरण यद्यपि गुणात्मक परिवर्तन है, परन्तु यह छलाग मारकर नही होता बल्कि क्रमिक होता है।

परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त का ज्ञान पूरे समाज एव ब्रह्माण्ड के रचनात्मक ज्ञान की कुंजी है। उदाहरण के लिए, जब समाज बहुत पिछडी अर्थ व्यवस्था मे रह रहा था, उस समय लोग केवल अपनी ही आवश्यकतायें पूरी करने के लिए उत्पादन करते थे। परन्तु आर्थिक प्रगति होने पर वे वस्तुओ का विनिमय करने लगे और अपनी आवश्यकता से अधिक सामान को किसी दूसरे उत्पादक को देकर उससे अपनी जरूरत का दूसरा सामान—जो वास्तव मे उसकी आवश्यकता से अधिक होता था, ले लेते थे। परन्तु पैदावार के साधनो मे उन्नति के साथ-साथ पैदावार बढने लगी और हर उत्पादक के पास उसकी आवश्यकता से कुछ न कुछ अधिक सामान पैदा होने लगा। इससे दो विरोधी प्रवृत्तियों ने एक ही साथ जन्म लिया। एक तो अदला-बदली (विनिमय) अधिक मात्रा मे होने लगी और साथ ही सग्रह की प्रवृति बढी ताकि जरूरत के समय दूसरो को देकर उसका विनिमय मूल्य बढ़ाया जा सके। इसी का यह परिणाम हुआ कि प्राकृतिक अर्थ-तन्त्र (अपनी ही आवश्यकता के लिए उत्पादन करना) के स्थान पर माल (बाजार मे बेचने का सामान) अर्थ-तन्त्र ने पाव पसारने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति पैदा होती गई जिसमे उत्पादन अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिए नहीं बल्कि बाजार की अर्थात् दूसरो की जरूरत पूरी करने के लिए किया जाता है। माल का उत्पादन इसी प्रारम्भिक रूप मे शुरू हुआ और उसका परिमाण बढ़ते-बढते ऐसा रूप सामने आया, जिसमे उत्पादन का पूरा रूप ही बदल

दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। विकास की प्रक्रिया में परिमाणात्मक परिवर्तन अव्यक्त एवं क्रमिक परिवर्तन के रूप में सामने आता है जिससे वस्तु का गुणात्मक परिवर्तन में गमन होता है और वह मौलिक रूप से भिन्न वस्तु के रूप में सम्मुख आती है। यह गमन छलांग का रूप धारण करता है।

पुराने से नये में सन्तरण की विविधता

परिमाण से गुण का बदलना सदा एक ही रूप में नहीं होता और न यही कहना उचित होगा कि गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन इन विविधताओं का अध्ययन करने पर बहुत जोर देता है। इसी प्रकार, परिमाण की भांति गुण का परिवर्तन भी कुछ क्षेत्रों में क्रमिक होता है। उदाहरण के लिए, रूस में समाजवादी क्रान्ति ने एक ही झटके में पूंजीवादी राज सत्ता और अर्थ व्यवस्था चकनाचूर कर दी। इसी प्रकार, पूंजीवादी संस्कृति के स्थान पर नई समाजवादी संस्कृति की क्रान्ति भी एक छलांग थी। परन्तु यह क्रान्ति एकबारगी नहीं हुई, बल्कि क्रमिक रूप में हुई और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अंगों के विकास के साथ-साथ उसका विकास हुआ। इस सांस्कृतिक क्रान्ति की चरम परिणति कम्युनिस्ट समाज के भरपूर निर्माण के काल में सामने आएगी।

समाजवाद से साम्यवाद में सन्तरण के युग में छलांग

जैसे पूंजीवाद से समाजवाद में सन्तरण सामाजिक क्रान्ति अर्थात् छलांग के जरिये होता है, उसी भांति समाजवाद से साम्यवाद में सन्तरण के युग में भी क्या इसी प्रकार छलांग भरी क्रान्ति की आवश्यकता होती है?

समाजवाद और साम्यवाद एक ही सामाजिक आर्थिक विरचना की दो मंजिलें हैं। इन मंजिलों में उत्पादन साधनों पर सामाजिक स्वामित्व समान रूप से विद्यमान रहता है और शोषण करने वाला कोई वर्ग नहीं

गया। अपनी जरूरत के लिए पैदा करने वाली व्यवस्था के स्थान पर ऐसी व्यवस्था छलांग मार कर सामने आई जिसे पूंजीवाद कहते हैं और जिसमें पैदावार का मुख्य उद्देश्य अपनी जरूरत पूरी करना नहीं बल्कि बाजार की मांग पूरी करना है।

अपनी मामूली सी फालतू पैदावार का विनिमय करने वाले कहां जानते थे कि विनिमय प्रणाली किसी दिन बडा आकार धारण करके ऐसी अर्थ-व्यवस्था को बढ़ावा देगी जिसमें उत्पादक (पूंजीपति) के उत्पादन का मुख्य उद्देश्य अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के स्थान पर मुनाफा कमाने के लिए, केवल बाजार के लिए सामान पैदा करना हो जायेगा।

जो बात अधिक विषयों पर लागू होती है, वही संसार की प्रत्येक वस्तु पर लागू होती है। जैसे विनिमय की प्रणाली ने, परिमाणात्मक परिवर्तन ने अर्थतंत्र का पूरा उद्देश्य और रूप बदल दिया है, ठीक उसी प्रकार, परिमाणात्मक परिवर्तन से प्रत्येक वस्तु का रूप, उसका गुण बदल जाता है।

दिशा और काल

हम भारतीयों के लिए यह गौरव की बात है कि न्यायिक और वैशेषिक दिशा तथा काल को पृथ्वी, जल तथा वायु की भांति द्रव्य मानते है। उनका कहना है कि भूत, वर्तमान आदि व्यवहार का कारण समय (काल) है जो एक है, अनन्त है तथा नित्य है और कभी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार, पूर्व-पश्चिम तथा ऊपर-नीचे आदि व्यवहार का कारण दिशा है जो एक है, नित्य है और अनन्त है।

परन्तु कुछ दार्शनिक जिनमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों शामिल है, दिशा एवं काल को केवल काल्पनिक मानते है। ये अभौतिकवादी लोग दावा करते हैं कि धारणायें मनुष्य की चेतना की उपज हैं, केवल आपसी व्यवहार के लिए इनकी कल्पना कर ली गई है और कुछ कहते हैं

गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद में एक लम्बी चर्चा आई है : धरती किसमें स्थित है, अन्तरिक्ष किसमें स्थित है, व्योम किसमें स्थित है, आकाश किसमें स्थित है और अन्त में तंग आकर ऋषि उत्तर देता है कि सब कुछ ब्रह्म में स्थित है। परन्तु आधुनिक ऋषिराज कार्ल मार्क्स इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर देते हैं–संसार, ब्रह्माण्ड और समस्त ब्रह्माण्डीय महाद्वीप अनन्त दिशा और अनन्त काल में स्थित हैं। इस अनन्त दिशा और अनन्त काल का न कोई ओर है, न छोर और न आदि है, न अन्त।

दिशा की भांति ही वस्तु विशेष और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध काल के साथ भिन्न रूप में है। पहले का आदि और अन्त है एवं उसका अस्तित्व सीमित है। परन्तु ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त नहीं है तथा काल के साथ उसका सम्बन्ध अनन्तकालीन। जिस मनुष्य की हम बात करते हैं, वह दुनिया में ५० हजार वर्ष पहले आया होगा या एक लाख साल पहले। परन्तु मनुष्य जन्म का विकास होने में कम से कम १० लाख वर्ष लगे होंगे। वनस्पतियों का जन्म पचासों लाख या करोड़ वर्ष पहले से हो सकता है जिनके कारण मानव जीवन का विकास सम्भव हुआ। और धरती की आयु एक अरब या तीन अरब वर्ष से भी अधिक हो सकती है। परन्तु जिस प्रकृति या मूल तत्वों से इन सबकी रचना हुई है, उनके जन्म का इतिहास कोई नहीं जानता। वे सदा से हैं और सदा बने रहेंगे। प्रकृति का जन्म और मरण नहीं है। वह अनन्त, अनादि और अमर है।

एक-दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई दिशा और काल में ही सारा ब्रह्माण्ड एव प्रकृति स्थित है और इन्हीं में उसकी गति एवं विकास चलते रहते है। प्रतिभाशाली विज्ञानवेता और सापेक्षतावादी सिद्धान्त के आचार्य आइन्स्टीन ने अभौतिकवादियों के इस भ्रम का निवारण कर दिया है कि दिशा और काल का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वे द्रव्य न होकर कल्पना मात्र हैं और प्रकृति की गति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता आदि। यद्यपि यह ठीक है कि वे नित्य एवं ध्रुव, हैं। परन्तु प्रकृति की गति का उन पर भारी प्रभाव पड़ता है।

यदि दिशा और काल काल्पनिक है तथा प्रकृति की गति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पडता तो दिल्ली से लखनऊ की दूरी ट्रेन से १० घण्टो मे और विमान से एक घण्टे मे कैसे पूरी की जा सकती है और शक्तिशाली राकेट इतनी ही दूरी को दो-चार मिनट मे कैसे पार कर लेता है ? यह यान की गति है जो दूरी को कम या अधिक समय मे पूरा करती है। इस प्रकार, प्रकृति की गति का उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है।

विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मानवीय चेतना से भी बहुत पहले विश्व था और उसी मे मानवीय चेतना का जन्म एव विकास हुआ। यदि दिशा और काल मानवीय चेतना की ही उपज हैं, तो इस चेतना से पहले यह विश्व एव ब्रह्माण्ड दिशा और काल के अभाव मे किसमे स्थित थे और उनका विकास एव गति किस प्रकार अमल मे आते थे। वास्तव मे देखा जाय तो दिशा और काल की आधुनिक परिभाषा ने परमात्मा की कल्पना पर करारी चोट की है जिसके बारे मे कहा जाता था कि जगत् उसी मे स्थित है और वह जगत् से बाहर भी स्थित है। यदि एक बार मनुष्य यह जान लेता है कि प्रकृति की कितनी गति दिशा तथा काल को कितनी मात्रा मे प्रभावित करती है और वह गति पर नियत्रण प्राप्त कर लेता है तो वह धीरे-धीरे पूरे ब्रह्माण्ड की खोज के लिए निकल सकता है। कृत्रिम उपग्रहो और अग्निवाणो मे बैठकर आज का मानव यही प्रयास कर रहा है।

किसी पदार्थ का अस्तित्व, दिशा तथा काल पर निर्भर करता है और ये ही वस्तु का रूप निर्धारित करते हैं। दिशा के रूप मे प्रत्येक वस्तु के तीन आयाम होते है—वस्तु की लम्बाई, चौडाई और ऊचाई। जिस वस्तु के ये तीन आयाम नही होते उसके अस्तित्व की कल्पना भी कैसे की जा सकती है और न उसके रूप का बोध करना सम्भव है। परन्तु दिशा के विपरीत काल का आयाम केवल एक होता है। यही कारण है कि प्रत्येक काम अथवा वस्तु का विकास सदा एक ही दिशा मे होता है भविष्य की ओर। काल उल्टा नही चलता, चल सकता भी नही है

केवल आगे की ओर चलता है। उसकी गति को पीछे की ओर मोड़ना या भूत को वापिस लाकर भविष्य के आगे रखना असम्भव भी है तथा खतरनाक भी।

यही कारण है कि जो लोग अतीत क़ाल की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को वापिस खींच कर आज की परिस्थितियों पर लागू करना चाहते हैं, उन्हें प्रतिक्रियावादी कहा जाता है। वे समाज की स्वाभाविक क्रिया, जो निरन्तर आगे बढ़ते रहने की है, को तोड़ कर उल्टी क्रिया अर्थात् वापिस मुड़ने की क्रिया को चालू रखना चाहते हैं। इसीलिए वे प्रतिक्रियावादी कहलाते हैं। कभी-कभी जब सामाजिक विकास की शक्तियां निर्बल होती है तो समाज की स्वाभाविक क्रिया-विकास गति रुक जाती है। हां, भूतकालीन परिस्थितियां तो कभी वापिस लौट ही नही सकती। परन्तु सामाजिक विकास को प्रबल हिंसा और दमन के द्वारा ही रोका जा सकता है। जैसा फासिज्म ने योरोप में और सैनिक तानाशाहियों ने एशिया के अनेक देशों में किया है तथा कर रही है। परन्तु ये प्रवृत्तियां क्षणिक होती हैं। इन प्रतिक्रियाओं को विफल करने के लिए सामाजिक शक्तियां विस्फोट के रूप में उदित होकर उन्हे निर्ममतापूर्वक उखाड़ फेंकती है।

संसार की सृष्टि का रहस्य

ब्रह्माण्ड की रचना रहस्यों से भरी हुई है। यह रचना इतनी अद्‌भुत है कि देख-देख कर आदमी चकित हो जाता है। इसीलिए, गद्‌गद् होकर वैदिक ऋषि ने कहा था—पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति अर्थात् देव की रचना देखो। न मरती है और न जीर्ण होती है।

सृष्टि की अद्‌भुत रचनायें ऐसी हैं जिन्हे सोच-सोच कर बनाने पर भी भूल हो सकती है, परन्तु यहा कोई भूल अनुभव नही होती। लोग यह जानना चाहते थे कि इस दुनिया और ब्रह्माण्ड को बनाने वाला कौन है। जब दुनिया बनी तो उससे पहले कैसा रहा होगा ? किसी ने कहा असत

जड) था। किसी ने कहा—सत् (चेतन) था। किसी ने प्रकाश बताया।
सी ने अन्धकार को आदि कहा। किसी ने कहा—कदाचित् हिरण्यगर्भ
सबसे पहला आदमी) जानता होगा। वही सबसे पहले आया था। फिर
ी ऋषि कहता है—हिरण्यगर्भ भी शायद नही जानते होंगे। (हिरण्य-
र्भी वेद यदि वा न वेद-ऋग्वेद)

इस प्रकार, पूरे ससार के दार्शनिको के लिए सृष्टि का रहस्य दुर्गम
गया। सबसे पहला दार्शनिक सशयवादी था। दूसरा दार्शनिक ऊहा-
हवादी था—नेति-नेति (ऋग्वेद) कहता था—यह है, यह नही भी है
र वस्तु के वास्तविक रूप की जिज्ञासा के साथ अर्थात् जगत् को सत्य
न कर उसने अपने दर्शन की आरम्भिक नीव रखी थी।

फिर भी, यह सयोग की ही बात समझिये कि सृष्टि के सम्बन्ध मे
स्तिक दार्शनिको ने पूरे ससार मे एक ही प्रकार के और मिलते-जुलते
सेद्धान्तों की घोषणा की है।

इनके अनुसार दुनिया और ब्रह्माण्ड की एक अवस्था ऐसी आती है
वह नष्ट हो जाता है। परमाणुओ की क्रिया बन्द हो जाती है और
कुछ या तो प्रसुप्त अवस्था मे चला जाता है और या फिर पूरी तरह
प्त हो जाता है। प्राचीन हिन्दू दार्शनिको के अनुसार जितने समय
ट रहती है, उतना ही समय प्रलय का निश्चित है।

प्रलय की अवधि समाप्त होने के पश्चात् ईश्वर मे सृष्टि करने की
ा पैदा होती है। इच्छा से परमाणुओ मे क्रिया उत्पन्न होती है और
स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से वे आपस मे मिलने लगते है। दो
ाणुओ के मिलने से द्वणुक, दो द्वणुको से एक त्र्यणुक और तीन त्र्यणुको
ा चतुरणुक बन जाता है।

इन चतुरणुको से विशाल पृथ्वी, विशाल जल, विशाल वायु, विशाल
और विशाल आकाश की रचना होती है।

हिन्दू धर्मशास्त्रो के अलावा, बाइबिल और कुरान आदि मे भी विश्व
रचना के सम्बन्ध मे ऐसे ही या इनसे मिलते-जुलते

किये गये हैं। सृष्टि रचना का पूरा सिद्धान्त आम तौर पर द्वैतव है तथा न्याय वैशेषिक दर्शन की धारणाओं से अधिक मेल खाता है। मी औसत भारतवासी तत्वों के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक की धारण के अनुसार चलता है।

इस सम्बन्ध में, दार्शनिक सत्य यह है कि परमाणुओं की ऐसी क अवस्था नहीं आती और न आ सकती है जिसमें वे क्षण के करोड़वें भ में भी निष्क्रिय अथवा गतिहीन हो जाते हों। निरन्तर गतिशीलता प माणु का नैसर्गिक गुण है। आधुनिक विज्ञान ने इस रहस्य का पता लग कर दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति पैदा की है।

पदार्थ केवल गति में ही रहता है, गति में ही रह सकता है और गति के जरिये ही वह अपने आपको अभिव्यक्त करता है। परमाणु तभी तक एक सुनिश्चित भौतिक काय के रूप में विद्यमान रहता है जब तक, उसे संरचित करने वाले, उसके घटक मौलिक तत्व निरन्तर गतिशील रहते हैं। इन कणों की गति से बाहर परमाणु का अस्तित्व सम्भव नहीं। परमाणु की क्रियाशीलता की भांति शरीर रचना भी निरन्तर गतिशीलता के कारण अपना अस्तित्व रखती है। यदि धमनियों में निरन्तर रक्त का संचार न हो, हृदय निरन्तर धड़कना चालू न रखे, फेफड़ों की श्वास-निश्वास क्रिया निरन्तर न चलती रहे और शरीर की पाचन क्रिया रुक जाये तो मानव जीवन की लीला समाप्त हो जाती है।

गति के कारण भौतिक पिण्ड (काय) अपने आपको प्रकट करते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव डालते है। सूर्य निरन्तर अनेकानेक गतिशील कणों को ब्रह्माण्डीय अवकाश मे विसर्जित करता रहता है। जब वे कण पृथ्वी पर पहुंचते है तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करते हैं और आंखें सक्रिय होकर उसे निहारती हैं जिससे हमें सूर्य का बोध होता है। यदि इन कणों की गतिविधियां न हों तो हमें यह भान होना भी असम्भव है कि सूर्य नाम की कोई वस्तु ब्रह्माण्ड में स्थित है और वह पृथ्वी से करीब ९ करोड़ मील की दूरी पर है।

केवल परमाणु के अन्दर के मौलिक कण ही गतिमान नहीं होते बल्कि अणुओ के अन्दर परमाणु और कायो के अन्दर अणु भी निरन्तर गतिमान रहते हैं। पार्थिव और अन्तरिक्षीय कायो का विराट् पुज, सभी कुछ गतिमान है। गतिहीन एव अपरिवर्तनीय एक भी तत्व का अस्तित्व नहीं है।

गति पदार्थ के अस्तित्व का एक रूप एव अभिन्न गुण है।

पदार्थ की गति परम एव शाश्वत है। वह न तो पैदा की जा सकती है और न उसका विनाश सम्भव है। स्वय पदार्थ भी न पैदा किया जा सकता है और न नष्ट किया जा सकता है। पदार्थ और गति का केवल हरफेर हो सकता है, उसका केवल रूप बदल सकता है और बदलता है।

प्रश्न उठता है—गति यदि शाश्वत एव परम है तो क्या विराम की, विश्राम या ठहराव की सम्भावना नहीं है ?

इसका उत्तर विज्ञान हां, मे देता है। ऐसे क्षण अवश्य आते हैं जब साम्यावस्था आती है दो विरोधी तत्व समान शक्ति के कारण विराम की अवस्था मे आ जाते हैं। परन्तु ये क्षण पदार्थ पर समग्र रूप से लागू नहीं होते। केवल विशिष्ट प्रक्रियाओ और अवस्थाओं पर ही लागू होते है। गति की परमता एव शाश्वतता मे विराम असम्भावित नहीं है बल्कि पूव मान्य है, क्योंकि विराम विश्व के विकास का पूर्व उपकरण अथवा साधन है। कोई वस्तु गति म उदय प्राप्त करती है जबकि विराम मानो गति के परिणाम को स्थिर करता है जिसके फलस्वरूप वह वस्तु कुछ समय के लिए परिरक्षित रहती है और जो वह है, वही बनी रहती है।

परन्तु गति की परमता एव शाश्वतता के विपरीत विराम सापेक्ष होता है जबकि गति निरपेक्ष होती है। विराम न तो सुप्तावस्था है और न मृतावस्था जैसा कि प्रलय के समय बताया जाता है। एक काय दूसरे काय की अपेक्षा विरामावस्था मे होता है अथवा अपनी गतिशीलता के मुकाबले विशेष अवस्था मे विराम की स्थिति म रहता है। परन्तु पदार्थ की सामान्य गतिमयता मे वह अनिवार्यतया सम्मिलित रहता है। हमारा

मकान जिसमें हम रहते हैं, विराम की अवस्था में प्रतीत होता है। परन्तु उसी समय वह पृथ्वी की धुरी के चारों ओर तथा पृथ्वी के साथ सूर्य के चारों ओर तीव्र गति से चक्कर काटता रहता है। इसके अलावा, जब कोई काय (पिण्ड) विरामावस्था में रहता है उस समय भी उसके अन्दर भौतिक, रासायनिक तथा अन्य प्रक्रियायें सतत काम करती रहती हैं। जिसे सुप्तावस्था कहा जाता है, उसमें शरीर के तमाम मूल अंग पूरी हरकत करते रहते है और बाकी अंग "चौकस" रहते है। तभी तो हाक मारते ही आदमी जग जाता है।

पदार्थ की गति शाश्वत एवं परम है जबकि विराम अस्थायी और सापेक्ष है, वह गति का एक क्षणमात्र है।

पदार्थ की गति के रूप अनेक हैं। जैसे—यांत्रिक, भौतिक, रासायनिक जैविक और सामाजिक। इसी प्रकार, पदार्थ और गति का सम्बन्ध-विच्छेद करना असम्भव है। वैज्ञानिकों ने भौतिक गति की अन्तर:परमाणविक और अन्तर्नाभिकीय गति जैसी अज्ञात किस्मों का पता लगाया है और इस रूप के अन्तर्गत तापीय, विद्युतीय, चुम्बकीय, अन्तर:परमाणविक तथा अन्तर्नाभिकीय प्रक्रियाओं की विवेचना की है। अब इस कल्पना के साथ सृष्टि के प्रारम्भ की बात सोचना शैशवपूर्ण होगा कि एक ऐसी भी अवस्था थी जब परमाणु एवं सम्पूर्ण भौतिक जगत् गतिहीन था और उसमें गति पैदा की गई।

इसके अलावा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को एक दूसरे के साथ जोड़ने की बात कही गई है। सच्चाई यह है कि पृथ्वी, जल आदि के पृथक् एवं स्वतन्त्र परमाणु ही नहीं हैं। वह मूल तत्व भी नही है। ये स्थूल पदार्थ बहुत से मूल तत्वों के विशेष मात्रा में मिल जाने से उत्पन्न हुए हैं। उन मूल तत्वों की खोज उन्नीसवी और बीसवी शताब्दियों में वैज्ञानिकों ने की है और अभी जारी है।

इसके अलावा, परमाणु स्वयं भी अन्तिम काय नही है बल्कि उसके गर्भ में दो परस्पर-विरोधी शक्तियां निरन्तर काम करती हैं जो कभी उसे

विश्राम नही लेने देती। परमाणु दो स्वाभाविक विरोधियो का, जो निरन्तर सघर्ष करते है तथा एक-दूसरे के बिना नही रह सकते, निवास-स्थान है। और क्योंकि इसीलिए परमाणु कभी गतिहीन नही होता, उसकी निष्क्रियता की कल्पना से की गई—प्रलय की कल्पना भी निराधार है। जब तत्वो का कभी प्रलय, विनाश ही नही है तो सृष्टि भी नहीं है।

पूरा ब्रह्माण्ड और विश्व सनातन काल से चले आ रहे हैं तथा सनातन काल तक चलते रहेगे। ब्रह्माण्ड मे जो बडी-बडी घटनायें घटती हैं और जिनकी कल्पना-मात्र से हम चौंक जाते हैं, वास्तव में देखा जाने तो वे अनन्त ब्रह्माण्ड मे निरन्तर घटती बडी-बडी घटनाओं के सामने अतीव तुच्छ हैं। हमारे परिवार मे किसी के जन्म लेने या मर जाने का हम पर जैसा गहरा प्रभाव पडता है, वैसा ही [illegible] दूर रहने वाले किसी अपरिचित व्यक्ति पर नही पडता। [illegible] हमारी धरती और दूसरे ग्रह अलग हुए होंगे। करोड़ों [illegible] पृथ्वी शीतल हुई होगी और उस पर पानी एकत्रित [illegible] वनस्पतियों का जन्म हुआ होगा और फिर [illegible] जीव-जन्तुओं में से आदमी निकला होगा और [illegible] जिन्हें "महार्णव" और "[illegible]" [illegible]।

सृष्टि और प्रलय का अनवरत सह-अस्तित्व

प्राचीन दार्शनिकों की यह धारणा सही नहीं थी कि एक समय प्रलय का निश्चित है और दूसरा सृष्टि का। उनकी धारणाओं के अनुसार कुछ समय तक प्रलय रहता है और कुछ समय तक सृष्टि। उनकी यह धारणा इसलिए भी सही नहीं है कि प्रलय के समय धरती और आकाश पर यदि जल ही जल छा जाता है तो धरती आकाश और जल का अस्तित्व वे स्वयं मान लेते हैं। फिर प्रलय कैसा? और यदि इनका अस्तित्व ही नहीं रह जाता है तो फिर कौन किस पर और किधर से छा जाता है?

यदि यह कहा जाए कि जिस स्थान पर धरती और आकाश स्थित थे वहां जल भर जाता है, फिर यह स्थान क्या है, क्या यह प्रलय एवं सृष्टि दोनों के समय समान रूप से और निरपेक्ष रूप में विद्यमान रहता है? और जल का भी यही रूप है? फिर प्रलय कैसी? यह तो सृष्टि का ही एक-दूसरा रूप हुआ।

सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में सही और वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या है? वही जिसकी पैरवी मार्क्सवाद करता है। सृष्टि और प्रलय को दो अलग-अलग टुकड़ों या कालों में नहीं बांटा जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि एक समय सृष्टि का है और दूसरा प्रलय का है। सृष्टि और प्रलय सनातन काल से साथ-साथ चले आ रहे हैं और अनन्त काल तक साथ-साथ चलते रहेंगे। प्रत्येक वस्तु फिर वह चाहे जितनी छोटी और महान् क्यों न हो, अपने जन्म या सृष्टि के साथ ही अपना मरण अथवा प्रलय लेकर आती है। इसलिए, सृष्टि तथा प्रलय का अविभाज्य सह-अस्तित्व

है। यह बात दूसरी है कि हम अपनी मोटी आख से किसी वस्तु या घटना की केवल सृष्टि ही देख पाते हैं और किसी की प्रलय। यह केवल इसी बात पर निर्भर करता है कि वस्तु का ज्ञान करते समय हमारी मानसिक स्थिति कैसी है और या कि सृष्टि अथवा प्रलय की घटना कितने प्रभावशाली ढग से प्रकट होती है। परन्तु जहा तक तात्विक वास्तविकता का सवाल है, सृष्टि और प्रलय की घटनायें कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होती और न ऐसा हो सकना सम्भव है।

उदाहरण के लिए, आज से लगभग २ या ३ अरब वर्ष पहले जब सूर्य मे भयकर विस्फोट हुआ था तो बहुत से छोटे-बडे अगारे उससे उचटकर अलग हो गए और उसी का चक्कर काटने लगे। उन्ही अगारो मे हमारी धरती भी एक है। जिस समय सूर्य म विस्फोट हुआ था उसी समय हमारी धरती का जन्म या सृष्टि हुई थी। यह विस्फोट प्रलय से कम भयानक एव लोमहर्षक नही था। परन्तु उसी समय प्रलय मे से धरती की सृष्टि हुई जिसने शायद अकेली ऐसी सन्तानो को जन्म दिया जो सृष्टि और प्रलय की बातो पर विचार कर सकती है। जो लोग यह सोचते हैं कि सूर्य मे विस्फोट अचानक हो गया था, वे असह्य ऊर्जाओ के भण्डार सूर्य के रूप का नही जानते कि इस विस्फोट का कारण पहले से विद्यमान होगा और वह आकस्मिक बिल्कुल नही होगा तथा भविष्य मे वैसी ही परिस्थितियो के फिर से आ जाने पर वह पुन दोहराया जा सकता है। इसी प्रकार, सृष्टि के समय धरती का जो रूप था, वह करोडो साल बाद वैसा नही रहा। उस समय धरती सूर्य के समान ही तपती हुई एक छोटा सा सूरज थी। परन्तु उसका वर्तमान रूप अचानक ही ऐसा नही हो गया है। इसका वह अग्निमय रूप वास्तव मे उसी समय नष्ट हो गया था जिस समय वह सूर्य से करोडो मील अलग होकर उसका चक्कर काटने लगी थी। यह बात दूसरी है कि उसका शीतल होना और फिर जल मे मग्न होना करोडो वर्षों के बाद देखने मे आया। परन्तु अरबो वर्ष की आयु वाली पृथ्वी के जीवन मे करोडो साल वैसे ही हैं जैसे सौ साल आयु वाले

व्यक्ति के जीवन में कुछ घंटे या दिन। सूर्य से अलग होना ही धरती
सृष्टि थी और वही क्षण उसके प्रलय अर्थात् विनाश का भी थ
कारण सूर्य से अलग होते ही धरती का अग्निमय रूप नष्ट होने लगा।

इसी प्रकार, जब करोड़ों वर्षों तक अंगारें के समान धरती शीत
होने लगी तो उसके चारों ओर हल्के-हल्के बादल मंडराने लगे। सूर्य
परिक्रमा के कारण तीव्र वेग से दौड़ती पृथ्वी के चारों ओर विद्यु
तरंगों तथा चुम्बकीय पट्टी का सुरक्षा कवच स्थापित हो गया कि
सूर्य की घातक किरणें पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश नहीं कर सकती थी
अन्तरिक्ष में मंडराती मेघमाला से कालान्तर में पृथ्वी का पूरा धरातल
जल में डूब गया और उसे किसी "वराह" अवतार की आवश्यकता थी।
"वराह" जी ने तो वह काम केवल पुराणों में किया था। परन्तु धरती
में करोड़ों साल तक विस्फोट चलते रहे। इन विस्फोटों ने कहीं ४०-४०
हजार फुट गहरे समुद्र खोद दिये और कहीं ३०-३० हजार फुट ऊंचे पहाड़
बना दिये। इन्हीं विस्फोट रूपी "वराह" अवतारों के दांत पर टिकी
धरती पानी से बाहर निकली।

धरती पर यह जल प्लावन या महार्णव अथवा जल प्रलय मानव
इतिहास की विभीषिका के रूप में अमर हो गया है। परन्तु इसी जल
प्लावन या प्रलय ने पृथ्वी पर लाखों-करोड़ों जीव-जन्तुओं तथा वनस्पतियों
की सृष्टि की। इस प्रकार, प्रलय सृष्टि का और सृष्टि प्रलय का तो
कारण है ही, परन्तु इसके अलावा सृष्टि और प्रलय की तथा जन्म और
मृत्यु की धारायें भी कभी अचानक नहीं उमड़ पड़तीं बल्कि धीरे-धीरे
आती हैं और फिर अचानक यानी झटके के साथ उमड़ पड़ती हैं। यही
गुणात्मक परिवर्तन है जो मोटी आंखों से भी देखा जा सकता है।

प्रलय और सृष्टि जहां एक-दूसरे की स्वाभाविक विरोधी हैं वहां
इतना ही बड़ा सच यह भी है कि वे दोनों सदा ही साथ रहती हैं, एक-
दूसरे की सहायक हैं और उन्हें एक-दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है।

"असत से सत्"

उपनिषद भारतीय दर्शन शास्त्र की प्रारम्भिक पिटारियां हैं। इनमें सभी दार्शनिक दृष्टिकोणों का वर्णन है। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि वैदिक साम्यवादी युग म भौतिकवादी दर्शन का बोलबाला था। आगे चल कर व्यक्तिगत सम्पत्ति और दास-प्रथा के जन्म के उपरान्त एक विशेष वर्ग का जन्म हुआ जो दूसरो की श्रमशक्ति पर जीवित था और इस परोपजीविता को औचित्य प्रदान करने के लिए उसे सामाजिक दर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई थी। फिर भी, उपनिषदो का ऋषि सबसे बडे रहस्य का बडे ही स्पष्ट शब्दो म उत्तर देता है—असत् से सत् पैदा हुआ। (असत सदजायत)।

असत् जड से सत् चेतन का पैदा होना और इस सिद्धान्त की पैरवी करना कालान्तर मे इतना बुरा समझा जाने लगा था कि इसकी खुली पैरवी उन लोगो ने भी नही की जो आत्मा, मन, स्वतन्त्र कर्त्ता और स्वर्ग नरक की धारणाओं म विश्वास नही रखते थे। प्रचार सामाजिक वातावरण तैयार करता है और उसका व्यक्ति की चेतना पर गहनतम प्रभाव पडता है।

हजारो वर्षों की अवधि के बाद कार्ल मार्क्स एक दार्शनिक पैदा हुए जिन्होने सबसे पहले ऋषि की वाणी दोहराई—"असत् से सत् पैदा हुआ है।

दुनिया का सबसे पहला दार्शनिक बृहस्पति था जिसे लोग दार्शनिक के रूप मे जानते हैं। बृहस्पति विद्या के देवता और देवों के गुरु थे। वे देवासुर सग्राम मे देव पक्ष का और शुक्राचार्य असुर पक्ष का नेतृत्व करते

थे। देवों और असुरों के रूप में वास्तव में इन दोनों आदि आचार्यों का नीति युद्ध चलता हुआ समझा जाता था। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार वृहस्पति असत् से सत् की उत्पत्ति मानते थे और अनात्मवादी एवं नास्तिक थे। विपरीत इसके, असुर अध्यात्मवादी थे और उनके आचार्य शुक्र सत् से असत् की उत्पत्ति मानते थे एवं आत्मवादी तथा आस्तिक थे।

कालान्तर में जब देव-असुर विचारधाराओं में टकराव कम होकर उनका समन्वय स्थापित हुआ और देवों-आर्यों ने जम कर एक जगह रहना शुरू किया, घुमन्तू जीवन का परित्याग किया और दोनों के आर्थिक व सामाजिक हितों में तालमेल बैठा तो वृहस्पति की विचारधारा के स्थान पर देवों को भी शुक्राचार्य की विचारधारा ही अधिक अनुकूल प्रतीत हुई। प्रत्येक निहित स्वार्थ वाले वर्ग का सिद्धान्त एवं दर्शन अति भूतवादी रहा है। देवों ने भी अपने आदि आचार्य, वृहस्पति को छोड़कर शुक्राचार्य के दर्शन को मान्यता दी तो स्वाभाविक ही था। असुरों में दास-प्रथा का उदय हो चुका था और आर्य सभी आर्य (स्वतन्त्र) थे। परन्तु जब आर्यों ने दास प्रथा स्वीकार की तो वृहस्पति के दर्शन का परित्याग करना स्वाभाविक था।

फिर भी, वैदिक देवों और आर्यों के आरम्भिक दर्शन से लेकर कदाचित् हजारों वर्षों तक मनुष्य ने जिस दर्शन का अनुसरण किया वह प्रारम्भिक दर्शन स्याद्वाद ही था और कोई बंधी-बंधाई दार्शनिक संज्ञा उसे नहीं दी जा सकती। ऋग्वेद और विशेष रूप से बाद के तीन वेदों को विशुद्ध देव (आर्य) पद्धति का दर्शन नहीं माना जा सकता। इस पर देव-असुर दोनों विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दोनों विचारधारायें समन्वित रूप में काफी लम्बे अर्से तक साथ-साथ चली रही होंगी। परन्तु कालान्तर में जब यज्ञों में हिंसा और अराजकता बढ़ी तो भौतिकवादी दर्शन का फिर से प्रभाव बढ़ने लगा। भौतिकवादी वृहस्पति के अनुयायियों ने—जिनमें सर्वाधिक ख्याति चार्वाक ने प्राप्त की थी, आस्तिक एवं आत्मवादी दर्शन पर खुलकर प्रहार शुरू कर दिया था।

आत्मवादी दार्शनिक एकदम व्याकुल हो उठे थे। लोकायत एव चार्वाक् दर्शन के खिलाफ उनके निर्मम एव भौंडे सघर्ष, अनर्गल आक्षेप और असन्तुलित भिडन्त से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आत्मवादियो के पाव के नीचे जमीन खिसक रही थी।

इसीलिये, आत्मवादियो ने प्रारम्भिक आक्रमण के समय कुछ बातो मे अनात्मवादियो के स्वर मे स्वर मिलाया, उनके साथ सयुक्त मोर्चा बना कर रूढिवाद पर आक्रमण किया। अनात्मवादियो के मुख्य सैद्धान्तिक आधार पर चोट की और साथ ही सत् से असत् की उत्पत्ति के अपने मौलिक सिद्धान्त की स्थापना एव पैरवी की। इसके लिए उनकी तीन मौलिक धारणायें थी—यज्ञो मे होने वाली हिंसा और कर्मकाण्ड के पाखण्ड के खण्डन में वृहस्पति के अनुयायियो से सयुक्त मोर्चा बनाना। यह उनके आत्मवादी दर्शन की मुख्य कार्यनीति थी। आत्मवादियो मे यह आत्म-विश्वास नही था कि वे चार्वाक मतवादियो और कर्मकाण्डियो—दोनो से एक साथ मोर्चा ले सकते हैं। आगे चलकर आत्मवादियों ने जिस दार्शनिक नीव की, ज्ञान कान्ड की, स्थापना की थी, उसके लिए वृहस्पति के अनुयायियो ने पहले ही वातावरण तैयार कर दिया था। इसके बिना कर्मकाण्डी आसानी से मैदान छोडने वाले नही थे।

कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए आत्मवादी कहते हैं —

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठ
नान्यच्छे्यो वेदयन्ते प्रमूढ़ा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे—
म लोक हीनतर वा विशन्ति ॥ (मुण्डक) ॥

यहां उपनिषत्कार ऋषि ने कर्मकाण्ड (इष्टापूर्त्त) में लिप्त लोगो को—जो केवल इसे ही कल्याणकारी समझते हैं, मूर्ख बताया है। यह भी कहा है कि ऐसे लोग बार बार इस मृत्युलोक मे लौटकर आते है तथा इससे भी बुरे लोको मे जाते हैं जो कर्मकाण्ड का पालन करते है।

प्रश्न उठता है कि कर्मकाण्ड यदि इतना बुरा है तो मानव जीवन के

उद्धार के लिए क्या करना चाहिए ? वही ऋषि फिर से उत्तर देते हैं :—

"कर्मकाण्ड की उलझनों में फंसे लोगों को देखकर ब्राह्मण को बहुत निराशा और वैराग्य पैदा होता है। इसके प्रतिकार के लिए वह हाथ में समिधा (लकड़ी) लेकर ब्रह्म में लीन तत्वज्ञानी गुरु के पास ज्ञान की प्राप्ति के लिए जाता है।"

परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद् विज्ञानार्थं स गुरु मेवाधिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (मुण्डक)

इस प्रकार, कर्मकाण्डवाद का परिहास उड़ाने के बाद इन ऋषियों को रूढ़िवादी कर्मकांडियों के रोष को सन्तुलित प्रतिरोध देना था। इसीलिए कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों को एक तराजू पर तोल कर ऋषि कहते हैं :—

"वे लोग गहन अन्धकार में प्रवेश करते है जो कर्मकाण्ड की उपासना करते हैं और वे तो और भी गहनतम अन्धकार में जाकर पड़ते हैं जो ज्ञान की उपासना करते हैं।"

जो अविद्या और विद्या (कर्म एवं ज्ञान काण्ड) दोनों को एक साथ जानते हैं, वे कर्म से मृत्यु तरते हैं और ज्ञान से अमरता प्राप्त करते हैं। (ईशावास्य)।

अन्धंतमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यामुपासते॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (ईशावास्य)

इस प्रकार, कर्म कांड और ज्ञान कांड के आपसी संघर्ष में पहले तो कर्म कांड के खिलाफ अपनी बात कहकर आत्मवादियों ने श्रोताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसके उपरान्त असत् एवं सत् के मूल

तत्व की मान्यता के विवाद मे उन्होने चैतनाद्वैतवाद की पैरवी करते हुए घोषणा की —

"जैसे अच्छी प्रकार धधकती अग्नि से बहुत-सी चिगारिया (हजारो की सख्या मे) निकलती हैं और उनका रूप अग्नि के समान रहता है, हे सौम्य ! उसी प्रकार उस अक्षर (अविनाशी) आत्मा या चेतन से अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते है और उसी मे विलीन हो जाते है।

"इस चेतन से प्राण उत्पन्न होता है, मन और समस्त इन्द्रिया, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि, जल और विश्व धारण करने वाली पृथ्वी भी।"

"अग्नि उसका मुह है, चाद और सूरज आंखें, दिशायें कान, वेद वाणी, वायु प्राण, विश्व इसका हृदय और इस सर्व भूतन्तरात्मा के पावो मे धरती है।" (मुण्डक)

(तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिगा:
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः
तथाक्षराद् विविधा. सौम्य ! भावाः
प्रजायते तत्र चैवापि यान्ति ।।
एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ।
ख वायुर्ज्योतिराप: पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ।।
अग्नि मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यें
दिशः श्रोत्रे वाग विवृताश्च वेदा. ।।
वायु. प्राणो हृदय विश्वमस्य
पद्‌भ्या पृथ्वी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ।।) मुण्डक

"सर्वज्ञ" ऋषियो ने उतने ही विश्व की विवेचना की है जितने को वे अपने सीमित ज्ञान साधनो से जान सकते थे और जानते थे। अनन्त ब्रह्माण्ड मे असख्य सूर्यो, चन्द्रमाओ, असख्य नीहारिकाओ आदि के सम्बन्ध मे वे जानते नही थे, इसीलिए उनकी विवेचना भी नही की।

कुछ बुद्धिजीवियो ने गाडी के पीछे घोडे जोत कर एक ओर तो अपने बौद्धिक दिवालियेपन का परिचय दिया है और दूसरी ओर पूरे समाज वे

बौद्धिक विकास पर रोक लगाई है। सत्-चेतन से असत्-जड़ की उत्पत्ति का पूर्वोक्त सिद्धान्त भी वास्तव में ऐसी ही बड़ी विडम्बना है जिसने पूरे भारतीय इतिहास को एक अजीब वितण्डा में फंसा कर रख दिया। उदाहरण के लिए—जिन भौतिक पदार्थों के रहस्यों को समझने के लिए हम साधनों का सहारा लेते हैं, वे सभी केवल ऐसे तत्वों की जानकारी दे सकते हैं जो भौतिक है। यदि यह संसार चेतन या आत्मा से बना है, और वह अभौतिक है तो उसका और उससे बने ब्रह्माण्ड या विश्व का हम बोध ही कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? यदि बोध प्राप्त करना सम्भव नहीं है तो घटनाओं को इच्छित मोड़ देने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा, यह अभौतिक आत्मा भी अद्भुत है—जिसे हम तर्क, बुद्धि, सूक्ष्मदर्शक यंत्र अथवा विवेचना से नहीं जान सकते। केवल शरीर पर भभूत मलकर, जलती लकड़ियों की धुनी में बैठकर और आंख मींच कर देख सकते है तथा केवल विश्वास से प्राप्त कर सकते हैं।

यही कारण है कि जब बौद्धों, जैनों, चार्वाकों और बृहस्पति के अन्य अनुयायियों के सामने 'विश्वास' का यह सिद्धान्त चला नहीं तो आत्मवादियों ने जगत् को मिथ्या, भ्रममात्र और आत्मा को अनिर्वचनीय—जिसके नाम व रूप की विवेचना नहीं की जा सकती, कहना शुरू कर दिया। आत्मवादियों की यह वैसी ही कुशलता है जैसे कोई अपराधी न्यायालय मे विरोधी वकील की जिरह से बचने के लिए अपने आपको गूंगा बता कर एं–एं–एं–करने लगे।

मार्क्सवादी जब असत् से सत् की उत्पत्ति की बात करते हैं तो ऐसा वे किसी पूर्वाग्रह के आधार पर नहीं करते। उनकी यह घोषणा है कि जड़ पदार्थ मूल है और उनका अस्तित्व एवं क्रियाशीलता किसी चेतन शक्ति की इच्छा से निरपेक्ष रूप में विद्यमान है। चेतन, आत्मा जड़ प्रकृति की विशेष रचना है जिसके लिए विशेष भौतिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। जैसे कि चन्द्रलोक में जड़ पदार्थ तो है परन्तु वे भौतिक परिस्थितियां विद्यमान नहीं हैं जिनमें आत्मा या चेतना शक्ति जन्म लेती

हैं। आत्मवादियो को कहा पता था कि जिस चन्द्रलोक मे पहुँचने के लिए वे मूज-मेखला बाधकर "दस-दस हजार वर्ष" तपस्या करते थे, वह चाद गढो, धूल, उल्कापात और पत्थरो का ढेर भर है जिसमें अब तक चेतना का विकास तक नहीं हो पाया है। पता नही हजारो वर्षों से जो ऋषि तपस्या करके चन्द्रलोक मे गये थे, वे झूठे प्रचार का शिकार होकर अपना जीवन बर्बाद कर बैठे और या फिर दूसरो को ही बहकाते रहे। इसलिए कि आर्मस्ट्राग को उनमे से एक भी चाद पर नही मिला।

हमारे कुछ वेदान्ती और विज्ञानवादी भाई यह दावा भी करते हैं कि पदार्थ एव दुनिया है ही कहा ? यह तो हमारी चेतना का बाहरी प्रतिबिम्ब मात्र है। तभी तक उनका अस्तित्व है जब तक हम उन्हे देखते या समझते हैं। ज्यो ही कोई वस्तु हमारे मस्तिष्क से परे हो जाती है, उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। परन्तु सभी पदार्थ शोर मचा कर कह रहे है कि 'हमारा अस्तित्व मस्तिष्क से परे और स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है।' यह मस्तिष्क और चेतना भी पदार्थों की ही विशेष परिस्थितियो की उपज है।

हम जब मनुष्य की चेतना या आत्मा के सम्बन्ध मे बात करते हैं तो मनुष्य के विचार, स्वभाव, आदतें, इच्छा शक्ति, चरित्र, सवेदनायें, अनुभूतिया, भावनायें, मान्यताए और मत आदि सभी को शामिल करते हैं। स्पष्ट है कि चेतना के इन गुण धर्मों की विवेचना कर सकना प्रारम्भ से ही मनुष्यो के लिए आज की भाति आसान नही था। विज्ञान और दर्शन शास्त्र की लम्बी यात्रा एव ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओ से प्राप्त अनुभवो के बाद आज ऐसा कर सकना सम्भव हो पाया है। आधुनिक विज्ञान ने उन भौतिक परिस्थितियो का विस्तृत अध्ययन एव मनन किया है जिनमे जीवन तत्व पैदा होते हैं और मानवीय ढग की चेतना का विकास सम्भव हो सकता है। भौतिकवादी एव अभौतिकवादी, दोनो ही यह मानते हैं कि पहले धरती, जल, वायु, वनस्पति आदि पैदा हुए और तब बाद मे आदमी आया। यदि चेतन पहले है तो यही मानना चाहिए कि सबसे पहले वही आया और तब बाद मे धरती, जल, वायु और आकाश

आदि आये। यदि हां, तो इसका तर्कसंगत प्रमाण होना चाहिए और कम से कम 'ईश्वर' कृत 'अपौरुषेय' पुस्तकों में इसका वर्णन होना चाहिए। सच्ची बात यह है कि पदार्थ या प्रकृति सदा से रहे हैं, परन्तु मानव और उसके मस्तिष्क का विकास बहुत बाद में भौतिक परिस्थितियों का परिणाम है। पदार्थ का अस्तित्व अरबों वर्षों से है। परन्तु मानवों का अस्तित्व इतना पुराना नहीं है। चेतना प्रकृति की उपज है और यह पदार्थ का ही एक गुण धर्म है। वह पदार्थ है मानव मस्तिष्क जो स्पष्टतया भौतिक है।

यह कौन नही जानता कि मस्तिष्क के विकृत होने से मनुष्य की चेतना विकृत हो जाती है, वह पागल तक हो जाता है, सोचना-समझना और बोलना तक बन्द कर देता है और वह मूक जानवरों तक से गई—बीती हालत में पहुँच जाता है। और यदि मस्तिष्क (दिमाग) बढ़ाने की दवायें तथा खुराक दी जाती है, उसे अनुकूल मौसम तथा सामाजिक वातावरण में रखा जाता है तो उसकी स्मरण शक्ति एवं मेधा, अनुभूति आदि सभी 'आत्मगुण' उन्नत एवं विकसित हो जाते हैं। यदि चेतना अभौतिक है तथा भौतिक परिस्थितियों से निरपेक्ष रह कर ये गुण आत्मा में वास करते हैं तो मनुष्य के बुद्धिमान् तथा मूर्ख होने पर भौतिक परिस्थितियों का इतना प्रभाव क्यों पड़ता है ?

मानव चेतना मनुष्य के भौतिक परिवेश के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है और वह इस परिवेश के बिना काम नहीं कर सकती। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द आदि गुणो से युक्त वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व में ही मानव मस्तिष्क के अन्दर गुणों की संवेदनायें होती है। यदि शब्द के न रहने पर भी किसी को सुनाई पड़ता हो, रूप के न रहने पर भी कोई देखता हो और रस के न रहने पर भी कोई रसास्वादन करता हो तो उस व्यक्ति के बन्धु-बान्धव चिन्तित हो उठते हैं तथा सिविल सर्जन की सिफारिश से जल्दी ही आगरा के 'अस्पताल' में भिजवाने की कोशिश करते हैं ताकि ज्यादा खराबी आने से पहले ही उसका मस्तिष्क ठीक कराया जा सके।

ये वस्तुएँ यथा गुण धर्म अपने अस्तित्व के जरिये ही ज्ञानेन्द्रियो पर प्रभाव डालते हैं। फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सवेदनायें स्नायुमार्गो से मस्तिष्क के गोलार्धों की ऊपरी त्वचा (परतो) मे पहुँचती हैं जहा अलग-अलग सवेदनायें पैदा होती है । सवेदनाओ के आधार पर अनुभूतिया, भावनायें, धारणायें, स्मृतिया और विचार के अन्य रूप तैयार होते है। ये सबकी सब परछाईया मात्र हैं जो कि वस्तु के अस्तित्व मे ही हो सकती है तथा वस्तु का ज्यो का त्यो प्रतिबिम्ब मात्र हैं । यदि वस्तु न हो तो प्रतिबिम्ब भी नही पड सकता। इसका यह अर्थ हुआ कि भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बत करने की क्षमता मस्तिष्क के गुण-धर्म की हैसियत से चेतना की अपनी खास विशेषता है।

परन्तु यान्त्रिक ढग से इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि जो वस्तु सामने है ही नही, उसका प्रतिबिम्ब मानव मस्तिष्क पर नही पडता। उदाहरण के लिए, कोई इजीनियर एक शानदार भवन या सेतु बन्ध एव पुल की कल्पना करता है या उसका नक्शा तैयार करता है। उनकी अनुपस्थिति मे भी मस्तिष्क पर यह प्रतिबिम्ब पडता है और नक्शा तैयार हो जाता है। मनुष्य किसी भावी वस्तु का सृजन कर सकता है। किन्तु ये प्रतिबिम्ब वर्तमान मे विद्यमान एक या अनेक वस्तुओ के आधार पर ही पैदा होते हैं। वे अपने चारो ओर की दुनिया के मानव ज्ञान पर आधारित होते हैं।

चेतना का निश्चित भौतिक और दैहिक प्रक्रियायो से सम्बन्ध है, परन्तु इन प्रक्रियायो को ही चेतना नही माना जा सकता। विचार पदार्थ से अभिन्न है, मस्तिष्क से अभिन्न हैं, परन्तु विचार और पदार्थ एक नही है। लेनिन ने कहा था कि विचार को भौतिक मानना ऐसा गलत कदम है जिससे भौतिकवाद और भावनावाद (अभौतिकवाद) का घोलमेल हो जाता है।

विचार कोई ठोस वस्तु नही है, उसें देखा नही जा सकता या उसका फोटो नही लिया जा सकता। विचार दुनिया मे वस्तुओ और व्यापारो

की परछाई है। यह भावनामूलक परछाई है, भौतिक नहीं। यथार्थ का सीधा-सादा चित्र नहीं है, उसकी निर्जीव प्रतिलिपि नहीं है, बल्कि मानव मस्तिष्क में समुचित रूप में रूपान्तरित यथार्थ है। मार्क्स ने विचार के सम्बन्ध में लिखा था कि—"विचार इसके अलावा और कुछ नहीं है कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों में बदल जाता है। "जो चीज मानव को पशु से अलग करती है, वह उसकी चिन्तन क्षमता है। यथार्थ का सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित करने, उस पर असर डालने, अपने सामने कोई लक्ष्य रखने और उनकी प्राप्ति के लिए काम करने की क्षमता है।

चेतना या विचार को भौतिकवादी कहने का यह आशय नहीं है कि चेतना या विचार समग्र पदार्थ की विशेषता है। यदि ऐसा होता तो जीवधारी और अजीवधारी सभी पदार्थों में चेतना या विचार समान रूप से होते। जीवधारी विचार ग्रहण करते हैं, सोचते हैं और अजीवधारी पदार्थ केवल अपना प्रतिबिम्ब छोड़ सकते हैं। एक हद तक यह गुण धर्म संवेदना के ही सदृश होता है, परन्तु वह संवेदना नहीं है। इसलिए, चेतना को समग्र पदार्थ का गुण धर्म नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग यह दावा करते हैं कि जब मशीनें गुणा और विभाग करती हैं, अरबों-अरबों का हिसाब कुछ क्षणों में कर देती हैं, एक भाषा की पुस्तक या भाषण का दूसरी भाषा में तुरन्त अनुवाद कर देती है। बिजली का मस्तिष्क बड़े-बड़े कारखानों की त्रुटियों का पता लगाकर ठीक करवा देता है, ये मशीनें बाहर से सूचनायें ग्रहण करती हैं और बहुत सी बातों को 'याद' करती हैं, पदार्थों का विश्लेषण, संश्लेषण आदि करती हैं। ये मशीनें स्वयं कार्य करती हैं और मानव मस्तिष्क की भांति संवेदनशील और सक्रिय होती हैं। फिर जीवधारियों की भांति ही अजीवधारी मशीनों में चेतना या संवेदनशीलता क्यों न मानी जाए?

परन्तु नाजुक से नाजुक और चाहे जितनी संवेदनशील मशीन भी क्यों न हो, मानव मस्तिष्क का मुकाबला नहीं कर सकती और वह मानव

की भाति चेतनाशील तथा विचारशील नही हो सकती। चिंतन तो केवल मानव कर सकता है और वह भी बहुत लम्बी अवधि तक विशेष सामाजिक परिवेश में रहने के बाद। समूची प्रकृति और कदाचित समस्त ब्रह्माण्ड में मानव एक विशेष स्थान रखता है और उसकी सबसे बडी विशेषता चिंतन है। वह अपने चारो ओर के वातावरण को समझने का प्रयत्न करता है, उसकी विवेचना करता है, उनसे स्वय प्रभावित होता है, उसके रूप एव गतिविधि तथा उसके नियमो को समझ कर उसे प्रभावित करता है और उसे अपने अनुकूल मोड देने का प्रयत्न करता है। शेष प्राणी उस वातावरण के बन्दी होते है तथा जो सामने है, अपने आपको उसके अनुकूल ढाल कर उससे काम लेते है। मानव मे असीम सृजनात्मक क्षमता है। अपनी असाधारण चिन्तन तथा कल्पना शक्ति से उसने एक ऐसे विधाता एव सृष्टिकर्ता की कल्पना की है जिसे उसने ईश्वर का नाम दिया है जो पूरे ब्रह्माण्ड का रचयिता है। और असलियत में मानव स्वय जो कुछ बन चुका है तथा बनना चाहता है, अपना वही रूप उसने ईश्वर में निहित कर दिया है।

मशीन इसी मनुष्य के जटील मस्तिष्क की कल्पना और दक्ष हाथों की रचना मात्र है। मनुष्य पहले से ही जानता है कि वह कौन सा काम करेगी और यह कितना कर सकती है ? वह उसकी समस्त क्षमताओ तथा सवेदनशीलताओ का निर्माता है। परन्तु मानव मस्तिष्क की क्षमताओ के सम्बन्ध मे बहुत सुनिश्चित भविष्य वाणी नही की जा सकती।

साधारण मशीन मनुष्य के शारीरिक परिश्रम को हल्का करती है और साइबर्नेटिक मशीन उसके मानसिक परिश्रम को हल्का करती है। इससे मस्तिष्क ऐसे थकाने और उबानेवाले कामो के भार से मुक्त हो जाता है जिनमे सृजनात्मक श्रम की जरूरत नही होती। वह मनुष्य की क्षमता का विस्तार करती है और उसे उन्नत करती है। परन्तु मशीन मशीन ही रहेगी और वह मानव मस्तिष्क का स्थान कभी नहीं ले सकेगी।

परन्तु इस सीधी-सच्ची सी बात का कि चेतना या विचार समग्र

भौतिक पदार्थ का गुण धर्म नहीं है, बल्कि वह मानव मस्तिष्क की परछाई है, को बिगाड़कर यह अर्थ लगाया जाता है कि "तब तो चेतना का अस्तित्व पदार्थ से पृथक् समझना चाहिये। चेतना भावनामूलक है, भौतिक नही"। यदि विचार भावनामूलक है, वह ठोस पदार्थ नहीं है, मानव मस्तिष्क मे वह पाया नहीं जाता तो वह पदार्थ या मस्तिष्क से सम्बद्ध नहीं है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाना चाहिए। वे इससे भी आगे बढ़ कर कहते हैं कि "वह न केवल मस्तिष्क या पदार्थ से स्वतन्त्र है बल्कि उसका सृजन भी करता है।" इस प्रकार, "पूरा संसार और बाह्य जगत् इस विचार या चेतना की बाहरी परछाइँ मात्र है, बाहर असलियत में कुछ भी नहीं है।" यह शीर्षासन करता दर्शन जर्मनी तथा भारत में बहुत चला था।

विचार मस्तिष्क से असम्बद्ध कैसे माना जा सकता है। इसके अलावा बाह्य पदार्थों का मस्तिष्क पर प्रतिबिम्ब पड़ना तो स्वभाविक है—इसीलिए कि जिसका प्रतिबिम्ब पड़ा वह पदार्थ और जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ा वह मस्तिष्क, दोनों ही ठोस वास्तविकतायें हैं। परन्तु अवास्तविकताओं का अवास्तविकता पर क्या और कैसे प्रतिबिम्ब पड़ेगा ? इसलिए लेनिन ने इस दर्शन को, जिसमें कहा गया है कि विचार बिना मस्तिष्क के विद्यमान रहते हैं—"मस्तिष्क शून्य" दर्शन की संज्ञा दी है। विज्ञान सिद्ध कर चुका है कि चेतना शरीर से स्वतन्त्र नही है, वह गौण है और मस्तिष्क का एक व्यापार है तथा बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब है। परन्तु साथ ही वह पदार्थ का परम प्रतिषेध नहीं है। इसलिए कि चेतना अति संगठित पदार्थ का मस्तिष्क का गुण धर्म है। वह भौतिक उपकरणों के प्रभाव से उदित एवं विकसित होती है, परन्तु पदार्थ से जन्म लेकर चेतना एक प्रकार की स्वतंत्र स्थिति हासिलकर लेती है और भौतिक जगत् के विकास को प्रभावित करती है।

प्रत्येक पदार्थ का यह आम गुण धर्म होता है कि वह अपना प्रतिबिम्बन करता है और उसका यह आभ्यन्तरिक एव स्वाभाविक गुण है। यही गुण वस्तुओं को ज्ञेय, जानने योग्य बनाता है और इससे बाह्य प्रभावों के अन्तर्गत आभ्यन्तरिक रूप में अपना पुनर्निमाण करने की, तदनुसार

उनसे प्रभावित होने की क्षमता होती है। प्रतिविम्बन सदा दो प्रभावो—अथवा दो से अधिक कार्यो—एक प्रभाव डालने वाला और दूसरा प्रभावित होने वाला—के आपसी प्रभाव से जुडा होता है। परन्तु पदार्थ जीवधारी हो या अजीवधारी प्रतिबिम्बन का गुण सभी मे है। अन्तर केवल इतना है कि

अजीवधारी पदार्थों मे यह प्रतिबिम्ब सहज और अचर होता है। अजीव तत्व अपने परिवेश तथा वातावरण में किसी प्रकार का विभेद या विवेक नही कर सकते। अनुकूल तत्वो की वे छांट नहीं कर सकते और प्रतिकूल तत्वो से अपनी रक्षा नही कर सकते।

विपरीत इसके, जीवधारी बाह्य प्रभावो के प्रति भिन्न प्रतिक्रियायें प्रकट करते हैं। वह अपने परिवेश और वातावरण के अनुकूल अपने आपको ढाल लेता है। कुछ तो इतने "चौकस" होते है, जैसे गिरगिट कि आसपास की वस्तुओ के रग के अनुसार ही अपना रग बदल देते हैं। जीवधारी अनुकूल तत्वो का उपयोग करते है और अनावश्यक, क्षतिकर तत्वों से बच जाते है। सजीव काय जीता और विकास करता है और वह सफलतापूर्वक वातावरण के अनुकूल ढल जाता है।

परन्तु मनुष्य और दूसरे जीवधारियो मे भी एक बडा अन्तर है—मनुष्य मे पदार्थ को सचेत ढग से प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है। वह न केवल अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालता है बल्कि अपने अनुभव एव ज्ञान का लाभ उठाकर उस वातावरण को ही बदलने की कोशिश करता है और बदलता है। ऐसी प्रवृत्ति कुछ अशो मे मानव से इतर जीवो मे भी पाई जाती है। जैसे बँया पक्षी आदि मे।

चेतना की उत्पत्ति के रहस्य का पता लगाने के लिए यह जानना जरूरी है कि किस प्रकार अजीव पदार्थ सजीव पदार्थ मे बदलते है और सजीव पदार्थ किस प्रक्रिया के माध्यम से चिन्तनशील पदाथ (मानव मस्तिष्क) मे सन्तरण के दौरान ऐसे प्रतिबिम्ब का रूप धारण करते हैं जिसमे चिन्तनशील पदार्थ या चेतना का विकास होता है।

प्रकृति विज्ञान में ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण मिलते हैं कि किस प्रकार अजीवित प्रकृति से जीवित प्रकृति का आविर्भाव होता है। एक विशेष मात्रा में गोबर और दही मिलाकर रख देने से बिच्छू ही बिच्छू पैदा हो जाते हैं। जैसे अजीवित और जीवित प्रकृतियों के बीच में कोई अभेद्य दीवार नहीं है, उसी प्रकार जीवित पदार्थ और मानव मस्तिष्क के विकास मे भी अभेद्य दीवार नही है। केवल आवश्यकता टूटे हुए जोड़ो को जोड़ने की है। हर सजीव काय में हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा खास कर कार्बन की बड़ी मात्रायें विद्यमान रहती हैं। ये ही जीवित शरीरों की रसायनिक विरचना और उनके आवश्यक कार्यकलाप के आधार होते हैं।

एंगेल्स ने कहा हैं कि—जीवन प्रोटीन कायों के अस्तित्व की विधि है, जिसका सारभूत तत्व है बाहर के प्राकृतिक पर्यावरण के साथ निरन्तर उपापचयात्मक आदान-प्रदान और इस उपापचय की समाप्ति के साथ ही जीवन समाप्त हो जाता है।" (प्रकृति का द्वन्द्व) अर्थात् जीव विज्ञान के अनुसार सजीव कायों में पोषक तत्वों को ग्रहण करने की और उसमें से सार लेकर वेकार तत्वों को बाहर निकालने की प्रक्रिया को क्रमशः आत्मीकरण और विकीर्णन कहते हैं। यही प्रक्रिया दूसरे शब्दों में उपापचय अर्थात् उपचय और अपचय कहलाती है।

जैसे विकास के साधारण नियमों में पहले परिमाणात्मक परिवर्तन होता है और बाद में, एक विशेष अवस्था में, गुणात्मक परिवर्तन होता है और उसे देखकर यह भ्रम होने लगता है कि सनातनकाल से यह वस्तु इसी रूप में रहती आ रही होगी और विकास की किसी स्वाभाविक प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम नही है, उसी भांति मानव चेतना के वर्तमान रूप को देखकर किसी साधारण व्यक्ति के लिए यह समझ पाना आसान नहीं है कि इतनी जटिल चेतना का विकास किसी अजीव पदार्थ में से कैसे सम्भव हुआ होगा? प्रारंभिक सरलतम शरीर का जन्म प्रतिबिम्बन के, जोकि पदार्थ का आम आभ्यान्तरिक गुण है, विकास की दिशा में पहला

और जबर्दस्त कदम था। वह मस्तिष्क के विकास की ओर पहली और निर्णायक छलांग थी। यथार्थ का प्रतिबिम्बन, जो अजीव प्रकृति में निहित है, गुणात्मक रूप में नये, सजीव प्रतिबिम्बन में परिवर्तित हो गया।

उदाहरण के लिए, पौधे सूर्य के प्रकाश के प्रति अत्यन्त सवेदनशील होते हैं। वे मानो उसके लिए दौड़ते हैं।। प्रकाश उनके लिए जीवन का स्रोत होता है। सबसे सादे, एक कौशिका वाले जीव, अमीबा में भी आहार के लिए चेष्टा होती है। यदि उसने अभी-अभी भोजन किया हो तो उसमे किसी प्रकार की खाद्य चेष्टा नही होती। इसका अर्थ हुआ कि एककोशिका और सबसे सीधा-सादा जीव, अमीबा भी बाह्य जगत् को अवैर एव उदासीन रह कर नही बल्कि प्रवरण (अपनाते हुए) प्रतिबिम्बत करता है। उसका शरीर मानो उपयोगी और आवश्यक उद्दीप्तियो की ओर आकृष्ट होता और हानिकर तथा अनावश्यक चेष्टाओं की ओर से विमुख होता है। परन्तु इन दोनो चेष्टाओं के लिए उसकी क्षमता बहुत कम और सीमित होती है। ऊतको, कोशिकाओ के न रहने के कारण उसके अग प्रभावित होने के बजाए वह कुल का कुल प्रभावित होता है और हलचल मे आता है।

विकास के साथ जब जीव तथा पर्यावरण अधिक जटिल हुए तो चेष्टाओं की प्रतिचेष्टा के आधार पर प्रतिबिम्बन का एक उच्चतर रूप जिसे सवेदन कहते हैं, उत्पन्न हुआ। सवेदन बाह्य उत्तेजना की स्फूर्ति को चेतना मे परिवर्तित कर देता है। जैसाकि चेष्टाओं की प्रतिचेष्टाओ के सम्बन्ध मे होता है, वैसा ही सवेदन जीव पर बाह्य जगत् की क्रिया के परिणाम स्वरूप होता है। परन्तु बाह्य चेष्टाओ-उद्दीप्तियो का दायरा बहुत बडा हो गया है जिससे जीव रूप, रस गध आदि से प्रभावित हुआ, उसमे स्वाद, गर्मी आदि की सवेदनायें विकसित हुई। धीरे-धीरे जीव मे ऐसे अगो का विकास हुआ जिससे वह गुणधर्मो का बोध करके पदार्थो का बोध कर सकता था और आगे चलकर एक एक इन्द्रिय से एक-एक गुणधर्म के बोध की क्षमता का विकास हुआ।

एक बार अंगों का विकास होते ही यह उन्नति चालू रही जिनके अनुसार संवेदनायें ज्यादा सूक्ष्म और विविध होती चली गईं। वातावरण के अनुसार अपने आपको ढालने की जीव की क्षमता बढ़ती गई और पर्यावरण के साथ सम्पर्क कायम रखने के लिए एक विशेष अवयव तैयार हो गया जिसे स्नायु मंडल कहते हैं। पर्यावरण के अनुसार अपने आपको ढालने की क्षमता निम्मतर और उच्चतर पशुओं में एक सी नहीं है।

प्रतिवर्तों (लौट कर आया प्रतिबिम्ब-रिफ्लेक्स) को जीवन में बाह्य प्रभावों की प्रतिचारी प्रतिक्रियायें कहते हैं। सारे के सारे प्रतिवर्तों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। एक है अननुकूलित (अनकंडिशन्ड) प्रतिवर्त और दूसरा है अनुकूलित (कंडिशन्ड) प्रतिवर्त्त। पहला हर जीव में होता है, वह निम्न हो या उच्च। वह जन्मजात या मौरूसी होता है। किसी गर्म चीज का स्पर्श होते ही जीव अपना मुंह पीछे हटा लेता है। परन्तु उच्चतर जीवों में अनुकूलित प्रतिवर्त्त भी होते हैं। जैसे किसी कुत्ते को यदि घंटी बजा कर रोज खाना दिया जाता है तो थोड़े दिनों के बाद ही कुत्ते की यह प्रवृत्ति (कंडिशन) हो जाती है कि घंटी बजते ही उसके मुँह में लार आने लगती है और वे ही प्रतिक्रियायें शुरू होती हैं जो खाना सामने आने पर होती है। अतः सजीव कायों के विकास के दौरान मनःशक्ति निरन्तर प्रगति करती गई और उसके फलस्वरूप अन्ततः संज्ञा सम्पन्न पदार्थ ने सोचने की क्षमता हासिल की।

मनुष्य और उच्चतर पशु दोनों संवेदना का अनुभव करते हैं। यह संवेदन क्षमता दैहिकीय आधार में स्थित है जोकि मनुष्य और पशु दोनों में मौजूद है। यह दैहिकीय आधार है, प्रथम संकेत व्यवस्था। यह ऐसी व्यवस्था है जिसके जरिये जीव पर वस्तुओं एवं व्यापारों की क्रिया का प्रत्यक्ष प्रतिचार होता है। पशु के लिए ये एक मात्र संकेत या सिग्नल हैं, इस नाते ये वस्तुएं उसकी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव डालती हैं और उसकी स्नायवीय व्यवस्था में तदनुरूप संवेदनायें उत्पन्न करती हैं।

मनुष्य की संवेदनाओं के साथ और भी कुछ बात होती है, जो पशुओं

के साथ नही होती । मनुष्य की संवेदना सदा बुद्धि के प्रकाश से दीप्त होती है । मनुष्य में अमूर्त चिन्तन की क्षमता होती है । उसमें यथार्थ के सामान्यीकृत प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने की, जो शब्दों में अभिव्यक्त धारणाओं का रूप लेते हैं, क्षमता होती है । हर शब्द,एक निश्चित वस्तु का द्योतक है जिसके साथ यह अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । यही कारण है कि मनुष्य पर शब्दो की वैसी ही प्रतिक्रिया होती है जैसे स्वय वस्तुओ के प्रत्यक्ष प्रभाव की होती है । चूकि प्रथम सकेत वस्तुए स्वय होती है, इसलिए उन्हे लक्षित करने वाले शब्दगौण सकेत की भूमिका अदा करते हैं । मनुष्य की चेतना पशुओ की मन शक्ति से गुणात्मक रूप से भिन्न है । इस अन्तर का मूल कारण यह है कि पशुओ की मन शक्ति केवल सजीव विकास की उपज है, परन्तु मनुष्य की चेतना सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की उपज है ।

मनुष्य और पशु की सवेदनाओ मे मौलिक अन्तर होता है । उदाहरण के लिए, गिद्ध मनुष्य से अधिक दूर तक देख सकता है । परन्तु देखी हुई चीज मे मनुष्य की अन्तदृष्टि पशु की तुलना मे अपरिमित रूप मे अधिक होती है । मार्क्स के मतानुसार मनुष्य की पांच इन्द्रियो का निर्माण पूरे विश्व इतिहास की उपज है । मनुष्य के सगीत ग्रहण करने वाले कान, प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द ले सकने वाली उसकी दृष्टि, उसकी परिष्कृत अभिरुचि और अन्य ज्ञानेन्द्रिया मानव समाज के व्यावहारिक अनुभव के आधार पर विकसित हुई हैं ।

इस प्रसग मे एगेल्स ने लिखा है कि *"श्रम ने स्वय मनुष्य का सृजन किया है" श्रम की बदौलत हमारे अति प्राचीन पूर्वज-जगली मानव ने* मनुष्य का चेहरा-मोहरा हासिल किया था । श्रम ने मनुष्य को भोजन, वस्त्र और घर प्रदान किया । उसने मानव को प्रकृति की शक्तियो से केवल बचाया ही नही, बल्कि उन्हे अपने वश मे करने तथा अपनी सेवा मे लगाने की क्षमता भी प्रदान की । श्रम के जरिये मनुष्य ने अपने आपको बदला और साथ ही इस धरती को भी बदल दिया और बदल रहा है ।

श्रम मनुष्य की सबसे बड़ी दौलत है। वह उसके जीवन और विकास के लिए परम अनिवार्य है।

मानवाकार वन्दरों के हाथ में श्रम के साधन पहुंच चुके थे जो प्रारम्भिक अवस्था में थे। इन साधनों का इस्तेमाल वे आकस्मिक रूप में करते थे—विवेकपूर्वक नहीं। वन मानुस साधनों-लाठी डंडा आदि का, इस्तेमाल तो कर लेता है, परन्तु वह उन्हें घड़ नहीं सकता। परन्तु मनुष्य ने ये दोनों कार्य किये। इस बात ने उसके श्रम में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया।

मनुष्य के श्रम की उपयोगिता का रूप ही बदल गया। इसे सीखने में मनुष्यों को लाखों वर्ष लगे होंगे और यह समय कठिन अनुभव प्राप्त करने और उसके आधार पर नये साधनों का निर्माण करने की प्रक्रिया में से गुजराना होगा।

मानवाकार वन्दर ने जब सीधा खड़े होकर चलना सीखा तो यह श्रम की नई परिस्थितियां उत्पन्न करने और चेतना के प्रथम आभास के प्रकट करने मे सर्वाधिक क्रान्तिकारी, महत्वपूर्ण और रोमांचकारी घटना थी। खड़ा होकर चलने का मतलब था कि चलने के काम आने वाले अगले दो पांव अब काम करने के काम आ सकते थे और वे काम के लिए मुक्त हो गए थे। पहले तो उन्होंने केवल प्रारम्भिक औजारों का इस्तेमाल भर किया होगा और तब आवश्यकता के अनुसार उनमें संशोधन और परिवर्द्धन किये होंगे। जैसे आदिम औजार थे वैसे ही आदिम चेतना भी रही होगी। उसे पदार्थो एवं वस्तुओं के उपयोग का विवेक नहीं रहा होगा। वस्तुओं के बीच की समानता देखना उसके लिए सम्भव नहीं होगा और वह नहीं जानता था कि वे वस्तुयें उसके किस काम आ सकती हैं, आदि।

श्रम के विकास के साथ-साथ उसकी चेतना का विकास हुआ। चेतना से या अनुभव से श्रम का विकास नहीं हुआ बल्कि स्वाभाविक प्रवृत्तियों से उसने श्रम किया और उस श्रम से उसे अनुभव हुआ। अनुभव से उसने

भी बदल जाता है। तरीका बदलने से समाज के आर्थिक व सामाजिक ढांचे पर असर पड़ता है और यह बदल जाता है और उनके बदलते ही आदमी और समाज की चेतना भी बदल जाती है। उदाहरण के लिए, जब पशु मार कर खाने के स्थान पर पशुपालन शुरू हुआ एवं पशुओं का दूध जीविका का साधन बना तो हरियाली भूमि का महत्व बढ़ गया, जहां पशुपालन आसानी से हो सकता था । इस पशुपालन ने आगे चलकर दास प्रथा को जन्म दिया और दास अपने मालिकों के पशुओं का पालन करके उन्हें आराम का जीवन व्यतीत करने का अवसर देते थे। काम से फुरसत मिल जाने के कारण कुछ लोगों के लिए दर्शन, धर्म, पुनर्जन्म एवं लोक-परलोक, संगीत तथा कला आदि की चर्चा करने का अवसर मिल गया । इसी प्रकार, पशु पालन के स्थान पर खेती, खेतों के स्थान पर उद्योग व कारखाने आदि आये तो क्रमशः सामन्तवाद और पूंजीवाद का विकास हुआ। आर्थिक साधनों एवं औजारों में क्रान्ति से केवल आर्थिक परिस्थिति ही नही बदली बल्कि लोगों के सोचने, विचारने के तरीके बदल गये, उनकी सामाजिक चेतना बदल गई और बौद्धिक दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हो गये।

मनुष्य ने सबसे पहले वही सीखा था जो उसके श्रम की उपादेयता मे वृद्धि करता था और जब ये साधन जटिल होते गये तभी उन्हें समझाने एवं काम लेने के तरीकों का प्रतिपादन करने के लिए 'थ्योरी' सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ी थी। यही कारण है कि प्राचीन कलाकृतियों में मनुष्य के श्रम का चित्रण खूब मिलता है। श्रम और चिन्तन की एकता में तथा श्रम के आधार पर मानव की चेतना का विकास और परिष्कार हुआ था।

भाषा और विचार का श्रम से सम्बन्ध

जब लोग-बाग आपस में मिलकर काम करते थे या जंगल में फल तोड़ने और शिकार खेलने जाते थे तो आत्म-रक्षा के लिए एवं काम में एक-दूसरे की सहायता के लिए उन्हें आवाज देने की, विशेष प्रकार की

सहायता मागने की या अपनी बात दूसरो को बताने की आवश्यकता अनुभव होती थी। मानव के मुह एव जुबान की बनावट ऐसी थी कि उससे शब्द निकल सकते थे। पहले तो हथेलिया बजाकर वे सकेत से काम ले लेते थे। बाद मे दो-चार शब्दो की रचना हो गई। परन्तु जब औजारों तथा काम की सख्या बढने लगी, जब कार्यकलाप मे जटिलता आने लगी तो उन्हें अधिक नामो, सज्ञाओ, क्रियाओ तथा शब्दो की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस प्रकार धीरे-धीरे भाषा का ही विकास हो गया, जिसनेमानव की चेतना मे चार चाँद लगा दिये और उसे अत्यन्त विकसित एव समृद्ध कर दिया।

श्रम एव उसके साधनो के विकास के साथ-साथ और उसी मात्रा मे भाषा एव चिन्तन का विकास होता चला गया। इनसे मनुष्य के पशु जगत् से बाहर निकलने, प्राणी जगत् मे एक विशेष स्थान ग्रहण करने, अपना चिन्तन एव उसकी शैली विकसित करने और भौतिक उत्पादन सगठित करने मे मनुष्य को भारी सहायता मिली। इनके उदय के साथ ही मनुष्य मे यह आत्म-विश्वास पैदा हुआ कि वह प्रकृति के रहस्यो को समझ सकता है, उसके नियमो का पता लगा सकता है, दारुण प्रकृति को अपने अकुश मे रख सकता है और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक तथा एक पीढी दूसरी पीढी तक अपना ज्ञान पहुचा सकती है। फिर क्या था, यह बौद्धिक क्रान्ति आते ही उसने ऋग्वेद के ऋषियो की भाति प्रकृति से डरना छोड दिया। उसने काव्यमय भाषा मे बात करना छोड़ दिया।

जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यो को वेद के रूप मे ज्ञान एव वेद-वाणी के रूप मे भाषा भगवान की ओर से जन्म के साथ ही मिल गई थी, वे वास्तव मे मानव जाति और पूर्वजो के उन दारुण सघर्षों और बलिदानो को भूल जाते हैं जब उन्होने एक-एक शब्द सीखने और भाषा का आविष्कार करने तथा सामाजिक चेतना की वृद्धि के लिये पर्वत लाघे थे, समुद्र पार किए थे एव सदियो तक एक-एक ग्रह-नक्षत्र की गति नापने के लिए प्राणो की बाजी लगाई थी। तभी कोई बात उनके पल्ले पडती थी। भाषा

प्रेरणादायक बौद्धिक क्रान्ति

यद्यपि वैदिक काल से ही रहस्यो से भरी प्रकृति के नियमो को समझने के लिए मानव जाति प्रयत्नशील थी और जिन नियमों का पता चल जाता था उन्हे इस्तेमाल करने की जी भर कोशिश करती थी, फिर भी, प्राकृतिक नियमो की खोज करने, ये नियम कैसे काम करते है, इसका पता लगाने और इन नियमो को मनुष्य अपनी सुविधाजनक दिशा मे मोड सकता है या नहीं, ये ऐसे सवाल थे जो सबको परेशान रखते थे और इनका पता लगाने मे असाधारण कठिनाइयो का सामना करना पडा। सबसे बडी कठिनाई धार्मिक अन्धविश्वासो और रूढिवाद ने पैदा की है। धार्मिक अन्धविश्वासो मे बधी पुरानी पीढियो को प्रकृति, जल, वायु, आकाश, चाद, सूरज, ग्रह, नक्षत्र और सभी भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध मे कुछ बधी-बधाई धारणायें मिलती थी। पहले तो इन धारणाओ को तोडकर बाहर निकलना और नई बात कहना तीव्र बुद्धि का काम था—जैसाकि आम-तौर पर सभी आदमी नही हो पाते, दूसरे यदि किसी व्यक्ति ने इन पदार्थों की प्रकृति एव नियमो के सम्बन्ध मे कोई खोज की भी तो उसे दोहराने का और सर्वसाधारण के सम्मुख कहने का वह साहस ही नही कर पाता था। इसलिए कि तमाम धर्म ग्रथ, पण्डे, मौलवी और पादरी उस व्यक्ति का गला घोटने के लिए पूरी राजसत्ता और जनशक्ति का आह्वान करते रहे हैं। इस प्रकार, प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन करने वालो को अब तक दो मोर्चों पर दारुण सघर्ष करना पडा है—एक तो प्रकृति के चेहरे पर पड़े मोटे घूघट से और दूसरे, रुढिवादी और धर्मान्ध कट्टर पथियो से जो

ठोस सच्चाई के दुश्मन होते हैं। इन्होंने मानव समाज एवं प्रकृति विज्ञान की प्रगति को सदा पीछे धकेला है। प्रत्येक आधुनिक विज्ञान वेत्ता को फिर वह सूर्य की परिक्रमा करती गोल धरती बताने वाला गलीलियो हो या महान् क्रान्तिकारी वैज्ञानिक कोपेर्निकस हो, सभी को प्रकृति के चेहरे से घूंघट हटाने के अपराध में इन पोंगापंथियों ने सताया है या मौत के घाट उतारा है। जिन लोगों ने प्राकृतिक नियमों का पता लगाया है वे लोग महान् बलिदानी थे और सत्य के लिए की गई उनकी गवेषणाओं ने मनुष्य जाति को अन्धकार युग से निकाला है। प्रकृति विज्ञान को अपनी सच्चाई स्थापित करने के लिए बहुत कुर्बानियां करनी पड़ी हैं।

पोंगापंथी रूढ़िवाद पूरे संसार में एक ही समान था और प्रकृति में हर प्रकार के परिवर्तन, हर प्रकार के विकास का निषेध करता था। प्रारम्भ काल में अतिक्रान्तिकारी प्रकृति विज्ञान ने अपने आपको सहसा अतिघोर रूढ़िग्रस्त एवं हलचलविहीन प्रकृति के सामने खड़ा पाया जिसमें आज भी वही सब कुछ विद्यमान है जो राजा रामचन्द्र और सृष्टि के प्रारम्भ में था और जो बदलने का नाम नहीं लेता तथा अनन्तकाल तक वही सब जैसा का तैसा बना रहेगा। प्रकृति विज्ञान अभी भी धार्मिक दर्शनों का मोहताज था—इसलिए कि अपनी खोज और चिन्तन की सामग्री उसे वही से मिलती थी। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रौढ़ होने लगा और धार्मिक रूढ़ियों से टकराने लगा। आज स्वयं दर्शन प्रकृति विज्ञान का मोहताज़ हो गया है। उसकी खोजों के आधार पर एक नये दर्शन का—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जन्म हुआ है जिसने प्रकृति विज्ञान के लिए एक विराट तथा अनुकूल मार्ग निश्चित कर दिया है।

प्रकृति का मूल नियम

प्रकृति के समस्त नियमों के जानने में और उन पर अधिकार करके उन्हें इच्छित दिशा में मोड़ देने में अभी मनुष्य जाति को बहुत समय लगेगा। परन्तु जितने नियमों का हम पता लगा पाये हैं, यदि उन्हें भी

जनहित मे इस्तेमाल करें तो यह धरती सबके लिए अपार सुख का कारण बन सकती है। इन ज्ञात नियमो मे मूल नियम यह है कि प्रकृति दो विरोधी तत्वो और प्रवृत्तियो से भरी हुई है। ये विरोधी तत्व एक-दूसरे को कभी सहन नही करते और कभी एक-दूसरे के बिना नही रहते, बल्कि यहा तक कि एक-दूसरे के स्वरूप का बोध भी वे आपस मे ही कराते हैं। विपरीतो—विरोधियो की अपरिहार्य एकता और सघर्ष ही प्रकृति का मूल नियम है। प्रकृति इसीलिए मूलरूपेण द्वन्द्वात्मक मानी जाती है। इसका अर्थ हुआ कि प्रकृति मे दो विरोधियो की एकता और सघर्ष के कारण निरन्तर द्वन्द्व अर्थात् सघर्ष चलता रहता है और क्योंकि यह द्वन्द्व सनातन कालीन है, इसलिए प्रकृति का रूप अपने आप द्वन्द्वात्मक और सनातन कालीन हो गया।

विपरीतो की एकता और सघर्ष क्या है? यह समझने के लिए चुम्बक का उदाहरण देना उपयुक्त होगा। इस मजेदार चुम्बक को हममे से सभी ने देखा और इस्तेमाल किया है। उसके दो सिरे—उत्तर और दक्षिण एक-दूसरे के समानान्तर ही नही, सख्त मुखालिफ हैं। वे कभी एक नही होते, परन्तु लाख सिर पटकने पर भी हम उत्तरी ध्रुव को दक्षिणी ध्रुव से पृथक् नही कर सकते।

यही है विपरीतो की एकता और सघर्ष का मूल नियम।

सभी वस्तुओ और व्यापारा मे परस्पर विरोधी पहलू हैं जो आगिक रूप मे जुडे हुए रहते हैं। इनसे विपरीतो की अटूट एकता बनती है। जिन मौतिक कणों से यह दुनिया और ब्रह्माण्ड बना है उसमे उसी तरह अन्तर्विरोध विद्यमान रहता है जैसे मूल कण मे। स्वय परमाणु के केन्द्र (गर्भ) मे घन आवेग युक्त नाभिकीय कण होता है जो ऋण आवेग युक्त कण से एव अनेक इलेक्ट्रोनो से घिरा हुआ रहता है। इन्हे एक-दूसरे से पृथक् करना सभव नही और न इन्हें मिलाया जा सकता है। यदि किसी प्रकार (जैसे परमाणु बम मे) यह प्रक्रिया तोड दी जाती है तो तत्वो की भयानक गतिशीलता और उससे पैदा होने वाली तीव्र ऊर्जा शक्ति का

आविर्भाव होता है। इसी प्रकार, रसायनिक प्रक्रिया परमाणुओं के संघटन और विघटन का अन्तर्विरोधयुक्त एकता है।

सजीव शरीरों में भी विपरीत पहलू होते है। जैसे कि असत् सत् की उत्पति वाले अध्याय में बताया गया है कि जो आहार हम करते हैं उसकी दो विरोधी प्रक्रियायें--परिपाचन और विपाचन की, शरीर में देखने को मिलती है। पहली से शरीर आहार के उपादेय अंशों को अपने में समेट लेता है जिससे शरीर एवं उसके अवयवों—अंगो का पोषण होता है। साथ ही जो अंग या जीवकोश क्षीण हो जाते है उनकी क्षतिपूर्त्ति कर लेता है। विपानन प्रक्रिया से आहार के अनुपादेय अंशों को शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है। यद्यपि ये दोनों ही प्रक्रियायें एक दूसरी की विरोधी है, परन्तु शरीर का यह मूल नियम है कि इन दोनों ही प्रक्रियाओं को वह अनिवार्य रूप से साथ रखता है। यदि आहार का उपादेय अंश शरीर में विलीन नही होता तो शरीर कायम नही रह सकता और इसी तरह यदि अनुपादेय अंश, मल-मूत्र तथा पसीने आदि के रूप में बाहर नही निकल जाता तो असीमित शारीरिक कष्ट तुरन्त 'मृत्यु' का आह्वान करवा देता है।

इसी प्रकार, जीवों में अनेक विरोधी प्रवृत्तियों की भांति आनुवंशिकता और अनुकूलन क्षमता की दो विरोधी विशेपतायें है जिन्हे समझे बिना प्राणि विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन संभव नही है। पहली विशेपता के अनुसार जीव अपने वंश की किसी अवस्था में अर्जित संस्कारों और विशेपताओं को अपने वंशक्रम में सौपता है और इस प्रकार बदली हुई परिस्थितियों में भी जीव को अपने वश की उपलब्धियां बिना परिश्रम के जन्म के साथ ही मिल जाती हैं। इस प्रकार हजारों वर्षों की लम्बी अवधि के साथ उसका नाता जुड़ा रहता है। दूसरी ओर अनुकूलन क्षमता उसे विपरीत से विपरीत एवं प्रतिकूल परिस्थितयों के साथ भी तालमेल बैठा कर जीवित रहने की क्षमता प्रदान करती है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य जाति एवं समस्त प्राणि जगत् का अब से बहुत पहले ही संहार हो चुका होता। इसी प्रकार, यदि पहली प्रवृत्ति न होती अर्थात् वंशानुक्रम

से अर्जित विशेषतायें प्राणियो मे न होती तो बिल्ली का बच्चा चुगा मागता, चिडिया का बच्चा दूध मांगता और आदमी का बच्चा स्तनो की ओर आकृष्ट न होता। तब समस्त प्राणि जगत् बिना प्रलय के ही काल के विकराल गाल मे समा जाता।

यह बात नही है कि आनुवशिकता केवल प्राणियो की विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों से ही सम्बन्ध रखती है। यह मानव सस्कृति, सभ्यता और सामाजिक परम्पराओ से भी सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए एक ही देश म रहने वाली अनेक जातियो मे कुछ जातिया अपने आर्थिक पिछडेपन से अचानक बाहर निकल कर आर्थिक उन्नति कर सकती हैं। इस प्रकार वे अपने से उन्नत जातियो के मुकाबले आर्थिक विकास के क्षेत्र मे आगे बढ सकती हैं। परन्तु इसके बावजूद सामाजिक व सास्कृतिक क्षेत्र मे उनका उतनी ही तेजी के साथ छलाग लगाना अनिवार्य नही है। ऐसा इसीलिए है कि वशानुक्रम से उस जाति को सास्कृतिक विरासत मे कुछ भी नही मिला, उसका पुराना इतिहास शून्य है। एक कुशल कलाकार पत्थर काट कर सुन्दर मूर्त्ति का निर्माण तो कर सकता है, परन्तु वह उसे सगीत की दीक्षा नही दे सकता। इसी तरह, उज्जवल भूतकाल के अभाव मे कोई जाति आकस्मिक एव अनुकूल आर्थिक परिस्थितिया म अच्छा खाना, कपडा और मकान तो प्राप्त कर सकती है, परन्तु अच्छी सस्कृति और गौरवपूर्ण सामाजिक परम्पराए प्राप्त करने के लिए उसे लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पडती है।

विशाल प्रकृति की भाति ही मानव मस्तिष्क के काम करने का भी एक खास नियम है। इसमे दो विरोधी प्रवृत्तिया निरन्तर काम करती हैं। वे हैं उद्दीपन और दमन। अर्थात् उद्दीपन के सकेन्द्रण और विकिरण की प्रक्रियायें। पहली के अनुसार मानव मस्तिष्क अज्ञात तत्वों का जानने के लिए लालायित होता है, उसके अन्दर ज्ञान की उत्सुकता पैदा होती है, और वह अनदेखी, अनसुनी तथा अज्ञात वस्तुओ को देखना, सुनना और जानना चाहता है। दूसरी ओर वह ज्ञान को स्मृति के रूप मे कजूस की

भांति संजो कर रखना चाहता है और ज्ञात वस्तु का विस्मरण अपने लिए विफलता मानता है। देखने में ये दोनों प्रक्रियायें एक-दूसरे की विरोधी हैं। परन्तु पहली प्रक्रिया से मानव मस्तिष्क जहां अपने ज्ञान का विस्तार करता है, वहा दूसरी प्रक्रिया से वह ज्ञान का संचय करता है जिसके अभाव में पहला अर्थहीन है और पहले के अभाव में दूसरा।

समाज में भी यह अन्तर्द्वन्द्व पाया जाता है। दास समाज में दास और दासस्वामी, सामन्तवाद में भूदास और भूपति एवं पूंजीवाद में सर्वहारा और पूंजीपति संघर्षरत रहते है तथा विशेष परिस्थिति का उदय हुये बिना साथ ही साथ रहकर काम करते हैं। वे संघर्ष करते हैं और साथ रहते है।

प्रश्न यह उठाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी प्रवृत्तियां कैसे पैदा हो गई हैं और यदि ये विरोधी प्रवृत्तियां ही प्रकृति का मूल नियम हैं तो ये नियम कैसे काम करते हैं तथा नियामक के अभाव में नियम टूट क्यों नहीं जाते ?

जो कुछ ऊपर कहा गया है, वह इन सभी प्रश्नों का उत्तर है। प्रकृति में गति लाने के लिए जिस सृष्टिकर्त्ता और नियामक की आवश्यकता समझी जाती है, उसका मार्क्सवाद विरोध नही करता। नियमों का नियामक या जनक अथवा कर्त्ता अवश्य है। परन्तु वह कर्त्ता शेषनाग के फण पर बैठा विष्णु हो, कमलदल पर पद्मासन जमाये ब्रह्मा हो या प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण मे सनातन काल से प्रयुक्त विरोधी प्रवृतियां हों जो प्रकृति को निरन्तर गतिशील रखती हैं, यही विवाद का असली विषय है। यह छोटी-सी परन्तु सबसे बड़ी नियामक और सबकी नियामक बात हमारे मित्रों की समझ में क्यों नहीं आती कि ये विरोधी प्रवृत्तियां न केवल साथ-साथ रहती है बल्कि इस के बिना दूसरी का अस्तित्व तक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि विरोधी प्रवृत्तियों का अनिवार्य सह-अस्तित्व केवल भौतिक एवं सामाजिक जगत् में ही अनिवार्य नही है बल्कि ज्ञान, विज्ञान, विद्युत, रसायनशास्त्र आदि सभी अंगों और उपांगों

मे वह पाया जाता है। उदाहरण के लिए—

गणित शास्त्र मे योग और विभाग के रूप मे।

मैकेनिक शास्त्र मे क्रिया एव प्रतिक्रिया के रूप मे।

पदार्थ विज्ञान तथा विद्युत शास्त्र मे धन एव ऋण के रूप मे।

रसायन शास्त्र मे परमाणुओ के सश्लेषण और विश्लेषण के रूप मे।

कानून शास्त्र मे वाद और प्रतिवाद के रूप मे तथा समाज शास्त्र मे वर्ग सघर्ष के रूप मे दो विरोधी प्रवृत्तिया निरन्तर साथ रहती हैं।

विपरीतो का सघर्ष प्रगति का कारण

दो विरोधियो के सघर्ष से प्रकृति और समाज मे न केवल निरन्तर गतिशीलता रहती है प्रत्युत् वे दोनो निरन्तर प्रगति करते हैं तथा आगे की ओर बढ़ते हैं। किसी वस्तु के विरोधी पक्ष एक-दूसरे का निषेध करते हैं, वे शान्तिपूर्वक साथ-साथ नही रह सकते और सघर्ष मे उलझे रहते हैं। इसीलिए नये और पुराने के बीच, जो जन्म ले चुका है उसमे और जो जन्म ले रहा है उसमे, तथा जो सत्ता मे है उसमे, और जो सत्ता से पृथक् है उसमे, सघर्ष अनिवार्य है। यह सघर्ष उनका विकास करता है। इसीलिए महान् लेनिन ने "विकास विपरीतो का सघर्ष है" कहा है। परन्तु यह नही भूलना चाहिए कि सघर्ष की यह अनिवार्यता ही उनकी एकता की भी परिचायक है। जब वे एक जगह होगे तभी उनका सघर्ष सभव है।

आधुनिक ज्योतिष विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अनन्त ब्रह्माण्ड मे आकर्षण तथा विकर्षण की प्रक्रियायें प्रतिदिन घटित महत्वपूर्ण प्रक्रियाओ एव घटनाओ का मूल कारण है। एक प्रवृत्ति जिस शक्ति को उत्पन्न करती है वह दूसरी पर हावी होती है तथा ब्रह्माण्ड में फिर वैसी ही घटनायें होने लगती हैं। उदाहरण के लिए —यदि विकर्षण हावी होता है अर्थात् ब्रह्माण्ड मे घूमते काय (पिण्ड) अपनी ओर आकर्षण खो बैठते हैं तथा अपने से दूसरे पिण्डो को दूर फेंकने लगते है तो ऊर्जा शक्ति

विच्छिन्न होने लगती है, उसका स्रोत नष्ट होने लगता है और तारे काल कवलित होकर बुझ जाते हैं एवं कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं। यदि वहां आकर्षण हावी हो जाता है तो पदार्थ और ऊर्जा केन्द्रित होने लगती हैं, परिणाम स्वरूप नये सितारे प्रज्वलित होने लगते है और ब्रह्माण्ड में एक नई दुनिया जन्म लेती है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन विरोधी प्रवृत्तियों में पूर्ण एवं स्थायी सन्तुलन कभी कायम नहीं रह सकता। यह माना कि साम्यावस्था आ जाती है, परन्तु वह क्षणिक, सापेक्ष एवं सशर्त होती है तथा शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। इन दोनों प्रवृतियों मे एक ही हावी होती है और ऐसा विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए :— किशोर जीवन में परिपाचन विपाचन पर हावी रहता है। इसलिए शरीर विकसित होता है। जब विपाचन हावी होता है तो शरीर बूढ़ा होने लगता है, आदि।

अन्तर्विरोधों के विभिन्न रूप

अन्तर्विरोध मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक अन्तर्विरोध और वाह्य अन्तर्विरोध। आन्तरिक अन्तर्विरोध किसी वस्तु के अन्दर का विरोध है और वाह्य अन्तर्विरोध उस वस्तु का बाहरी वातावरण या परिस्थितियों से विरोध होता है। उदाहरण के लिए जीव शरीर का आन्तरिक विरोध उसकी परिपाचन तथा विपाचन प्रक्रियाओं का अन्तर्विरोध है जिस पर पूरे शरीर का अस्तित्व निर्भर करता है। परन्तु जब शरीर बाहर की भौतिक परिस्थितियों से, सर्दी-गर्मी आदि से संघर्ष करता है तो वह बाह्य अन्तर्विरोध होता है। इसी प्रकार, समाज व्यवस्था में जब पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग संघर्ष करते हैं तो वह समाज का आन्तरिक अन्तर्विरोध कहलाता है। परन्तु जब वही समाज प्रकृति के साथ अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए संघर्ष करता है तो यह बाह्य संघर्ष कहलाता है।

गैर मार्क्सवादी दार्शनिक बाह्य अन्तर्विरोध को तो मानते हैं इसलिए कि वे मानव समाज तथा प्रकृति के बीच सघर्ष को ही लाभदायक मानते हैं। परन्तु आन्तरिक अन्तर्विरोध को नही मानते—इसलिए कि वे पूँजीपति एव सर्वहारा वर्गों के बीच स्थायी समन्वय कायम करना चाहते हैं। परन्तु यह सही नही है। इसलिए कि आन्तरिक सघर्ष किसी वस्तु के अस्तित्व का निर्णायक होता है और इसीलिए मौलिक है तथा बाह्य अन्तर्विरोध केवल परिस्थिति विशेष का परिचायक होने के कारण द्वितीय श्रेणी का तथा गौण होता है। किसी वस्तु के विकास की दिशा और उसके अन्तिम लक्ष्य का फैसला आन्तरिक अन्तर्विरोध ही करते है जब कि बाह्य अन्तर्विरोध केवल उसके विकास को आवेग प्रदान करते हैं।

फिर भी, अर्थात् यह मानते हुए भी कि, आन्तरिक अन्तर्विरोध ही निर्णायक है भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक विकास के लिए बाह्य अन्तर्विरोधो के महत्व को कम करके नही आकता। उदाहरण के लिए, समाज के अस्तित्व तथा विकास के लिए दो विरोधी वर्गों का सघर्ष निर्णायक होता है। परन्तु वे किन परिस्थितियों मे तथा साधनों से सघर्ष करते हैं, यह काफी महत्वपूर्ण सवाल है। बाह्य अन्तर्विरोध मौलिक सघर्ष मे सुगमता ला सकते हैं और उन्हें कठिन भी बना सकते है। परन्तु वे पूरे विकास पथ को निर्धारित नही कर सकते। सच्चा मार्क्सवादी आन्तिरक अन्तर्विरोधो का रूप समझने का प्रयास करता है तथा उन्हें प्रकाश म लाता है। परन्तु साथ ही वह बाह्य अन्तर्विरोधो की कभी उपेक्षा नही करता।

वैमनस्यपूर्ण और वैमनस्यरहित अन्तर्विरोध

जिन वर्गों के हित इतने विरोधी होते है कि उनमे स्थायी समन्वय नही हो सकता एव एक दूसरे के अस्तित्व को चुनौती देते रहते है, वे वैमनस्य पूर्ण अन्तर्विरोध कहलाते है जैसे पूँजीपति और सर्वहारा का अन्तर्विरोध। परन्तु जिनके विरोधो को शान्त करने के लिए सामाजिक क्रान्ति अनिवार्य नही होती बल्कि केवल परिस्थितियाँ बदल देने से वह विरोध शान्त

हो सकता है, उसे वैमनस्यरहित अन्तर्विरोध कहते है। जैसे पूंजीवादी व्यवस्था में किसान और मजदूर का अन्तर्विरोध।

मौलिक और गौण अंतर्विरोध

प्रत्येक वस्तु एवं अवस्था में एक ही साथ अनेक अन्तर्विरोध रहते हैं। इस जमघट में से एक ही अन्तर्विरोध मौलिक होता है जो विकास में निर्णायक या अग्रणी भूमिका अदा करता है और अन्य सभी अन्तर्विरोधों पर असर डालता है।

सामाजिक जीवन से बाहर मुख्य अन्तर्विरोध का पता लगाना आसान होता है। उदाहरण के लिए—रासायनिक प्रक्रिया में परमाणुओं का विश्लेषण और संश्लेषण, शरीर में आहार का परिपाचन और विपाचन आदि मुख्य अन्तर्विरोध हैं और शरीर में होने वाले समस्त विकारों को वही प्रभावित करता है। परन्तु सामाजिक जीवन अधिक जटिल है और इसकी प्रतिक्रिया मूक नहीं, मुखर होती है। इसलिए, कभी-कभी गौण अन्तर्विरोध मौलिक अन्तर्विरोधों की तरह प्रतीत होने लगते हैं। उदाहरण के लिए—१६६६ के मध्यावधि चुनावों में उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में बी० के० डी० की आतंकवादी राजनीति में फंस कर किसानों और देहाती सर्वहारा में ऐसा दारुण तनाव सामने आया कि देहाती सर्वहारा और धनी किसान के बीच का संघर्ष मौलिक प्रतीत होने लगा जब कि मौलिक संघर्ष एकाधिकारी पूंजीपति और सर्वसाधारण जनता के बीच में है जिसका नेता सर्वहारा है। धनी किसानों के साथ संघर्ष गौण है जिसमें बी० के० डी० की राजनीति ने तीखापन ला दिया।

वास्तव में देखा जाए तो आन्तरिक और बाह्य, वैमनस्यपूर्ण और वैमनस्यरहित तथा मुख्य और गौण अन्तर्विरोधों के बीच बहुत ऊंची, गहरी और मोटी दीवार नहीं है। वे एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं, एक-दूसरे में उतरते हैं और विकास में भिन्न-भिन्न भूमिकायें अदा करते हैं।

प्रकृति का यह शाश्वत और मौलिक नियम है कि जिस वस्तु में विरोधी

प्रवृत्तिया शान्त हो जाती है उसका नाश हो जाता है। इसीलिए लेनिन ने कहा है —

"दो विरोधी प्रवृत्तियोका एक स्थान पर जमाव सशर्त, अस्थाई, सक्रमणकालीन और सापेक्ष होता है। परन्तु उनका टकराव और गतिशीलता सनातन, नित्य तथा पूर्ण है।"

इस गभीर सूत्र का यही मतलब समझना चाहिए कि किसी वस्तु मे रहने वाली प्रवृत्तियाँ सदा एक ही रूप मे नही रहती और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी सदा एक ही रूप मे नही बना रहता। ससार की अन्य वस्तुओ की भांति इनका भी जन्म, विकास और विनाश होता रहता है जिसमें एक गुणात्मक परिवर्त्तन के स्थान पर दूसरे गुणात्मक परिवर्त्तन होते रहते हैं। इसलिए, इन विरोधी प्रवृत्तियो मे भी भेद करना पडता है। कुछ मुख्य विरोधी प्रवृत्तियाँ होती है और कुछ गौण। विभिन्न परिस्थितियों में गौण और मुख्य विरोधो के रूप बदल सकते है। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व कायम है तो साम्राज्य तथा सर्वहारा वर्ग का विरोध मुख्य हो जाता है तथा स्थानीय पूजीवाद और सर्वहारा का विरोध गौण हो जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ न तो एक ही दिशा मे होती हैं और न सीधे-साधे ढग से हरकत करती है। कुछ गतियाँ एक ही दिशा मे होती है और कुछ बहुत जटिल ढग से होती है। जैसे परमाणुओ की गति, परमाणुओ के गर्भ मे स्थित शक्ति किरणो की गति, प्रकाश किरणो, विद्युत चुम्बकीय विकिरणो और एक्स-रे आदि की गति। परन्तु ये चाहे जितनी पेचीदा क्यो न हो, उनमे क्रमबद्धता रहती है और विरोधी प्रवृत्तिया कभी मनमाने ढंग से काम नही करती।

स्पष्ट है कि सर्वाधिक जटिल विकास मानव शरीर, सामाजिक ढाँचे और मानव मस्तिष्क का है जिनमे विरोधी प्रवृत्तियाँ बहुत पेचीदा ढग से काम करती है और यह जानना बहुत कठिन हो जाता है कि किन परिस्थितियो मे किस आदमी का मन किस ढग से सोचेगा, क्या हरकत

करेगा और उस हरकत की किस पर क्या प्रतिक्रिया होगी एवं किन विशेष सामाजिक परिस्थितियों में मुख्य विरोधी सामाजिक शक्तियां संघर्ष या सहयोग का रूप धारण करती हैं। इसे समझना और उचित दिशा प्रदान करना तभी संभव हो सकता है जब नेता सामाजिक विकास की मुख्य धारा का सही-सही विवेचन कर लें।

प्राकृतिक नियमों की ये थोड़ी-सी विशेषताएं बताई गई हैं और यह भी कि ये नियम कैसे काम करते हैं। किसी विशेष घटना या वस्तु के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए केवल उन्हीं का ज्ञान लेना पर्याप्त नहीं होता बल्कि पूरी परिस्थिति, वातावरण और सम्बन्धित दूसरी घटनाओं का ज्ञान भी आवश्यक होता है, जिनके साथ जुड़कर वह काम करती है या अस्तित्व में आती है। जो लोग केवल घटनायें देखते हैं और परिस्थिति तथा विकास की मुख्य धारा को नहीं देखते वे जीवन भर घटनाओं के साथ तालमेल ही बैठाते रहते हैं, अवसरवाद करते हैं, घटनायें उन पर हावी रहती हैं तथा वे घटनाओं को इच्छित मोड़ नहीं दे पाते। इसलिए कि मुख्य धारा का ज्ञान न होने के कारण वे परिस्थितियों पर हावी नहीं हो सकते। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि नियम परिस्थितियां तैयार करते हैं और परिस्थितियां नियमों को काम करने में सहायक होती हैं तथा अग्रसर करती हैं। इन दोनों का सनातन सम्बन्ध सनातन सृष्टि और अनन्त तथा विविध निर्माण का चक्र चलाता है।

परस्पर विरोधी तत्वों की विरोधी तथा विविध चेष्टायें गतिशीलता कायम रखती हैं और गति से सब वस्तुओं का सृजन, निर्माण, स्थिति एवं ह्रास होता रहता है और गति के कारण ही सारे नियम नियमित ढंग से काम करते रहते हैं। नियमों के ठीक ढंग से काम करते रहने का इससे भिन्न दूसरा कोई नियम नहीं है और न हो सकता है। प्रकृति की गतिशीलता उसके आन्तरिक अन्तर्विरोध से उत्पन्न होती है न कि बाह्य अन्तर्विरोध से। फिर नियामक ईश्वर उसका नियमन ही कैसे कर सकता है, जोकि उसका आन्तरिक अंग नहीं है।

प्राकृतिक और सामाजिक नियम

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि गति, परिवर्तन और विकास तथा ह्रास प्रकृति तथा समाज के स्वाभाविक नियम है। स्वाभाविक नियम वे ही होते हैं जो किसी वस्तु के अस्तित्व के साथ रहते हैं और जिनके अभाव मे वस्तु का अस्तित्व एव बोध भी सभव नही होता। फिर उनके पैदा होने का सवाल ही कहा उठता है? इसीलिए, ऐंगेल्स ने यहा तक कहा है कि "तत्वो का अस्तित्व गति पर निर्भर करता है। गति के कारण अस्तित्व है और अस्तित्व के साथ गति है।" गति का दार्शनिक दृष्टिकोण यही है कि प्रत्येक वस्तु आकाश मे चक्कर काटती रहती है और इसी गति के कारण पूरे ब्रह्माण्ड मे अन्तहीन प्रक्रिया चालू रहती है। इस परिवर्तन की मुख्य विशेषता के कारण ही एक वस्तु से दूसरी वस्तु का उत्पादन तथा एक अवस्था से दूसरी अवस्था का आवागमन चलता रहता है। इस अनवरत गति मे यह तो हो सकता है कि कोई वस्तु अधिक गतिशील प्रतीत होती हो और दूसरी उसकी तुलना में मन्दगति प्रतीत होती हो। परन्तु किसी वस्तु के अस्तित्व के साथ गतिहीनता की कल्पना नही की जा सकती।

यदि प्रकृति और समाज की अनवरत गतिशीलता ही उसका नियम है तो उसे अच्छी तरह समझकर उस पर काबू पाया जा सकता है तथा मनुष्य प्रकृति एव समाज मे दर्शक के स्थान से ऊपर उठकर स्वय विधाता एव नियामक बन सकता है।

विकास और ह्रास की अतहीन प्रक्रिया

प्रकृति विज्ञान की नई खोजो से पता चलता है कि स्वय धरती भी घटनाक्रम से निकला पदार्थ है और सदा से वह ऐसी ही नही रही जैसी आज है। जब से भूगर्भ विज्ञान ने नई खोजें की है तब से यह भी पता चल गया है कि केवल पृथ्वी का ही नही बल्कि उसकी विभिन्न परतो का

भी एक लम्बी अवधि में आविर्भाव हुआ है। इन परतों के अलावा, इनमें दबे जानवरों, पशु-पक्षियों के अस्थिपंजरों के अवशेषों का मिलना यह सिद्ध करता है कि जीवन एवं शरीर रचना का विकास भी कालचक्र के हिसाब से विभिन्न रूपों में हुआ है। इसके बाद नक्षत्रों और तारापुंजों की निश्चित गति का अनुमान तो हजारों साल पहले ही ज्योतिषियों ने लगा लिया था—जब उनके पास वेधशाला तक नहीं थी, कि अमुक समय पर सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण होगा जब कि इस समय गति के रहस्यों का पता लगा कर मानव निश्चिन्ततापूर्वक चन्द्रलोक में पहुँचा और मंगल की तैयारियां कर रहा है।

आधुनिकतम खोजों में धरती की परतों में ऐसे देहधारी भी मिले हैं जिनके कंकालों को यह बताना भी मुश्किल है कि वे वनस्पति जगत् के हैं या पशु जाति के। बीच के लिंक (कड़ी) जो खोये हुए थे रोजाना मिलते जा रहे हैं और प्रकृति की नवीन धारणा में उसकी पुरानी स्थायित्व की धारणायें ढहती जा रही है। सम्पूर्ण प्रकृति प्रवाहशीलता के रूप में उभर-कर सामने आ रही है।

"आधुनिक विज्ञान का आविष्कार होने से पहले कौन यह मान लेता कि आकाश गंगा के बाह्यतम ताराचक्र से घिरेहुए हमारे ब्रह्माण्डीय द्वीप के अगणित सूर्य और सौर-मण्डल वाष्प के उफनते और दहकते पुंजों के सिकुड़ने और शीतल होने से विकसित हुए थे। इनकी गति के नियमों का तब पता चल सकेगा जब हमें तारों की असली गति का आभास मिल जाये। ज्योतिर्विज्ञान में यह धारणा अधिकाधिक सामने आ रही है कि हमारे तारामण्डल के अन्दर ऐसे अन्धकारपूर्ण पिण्ड हैं जो ग्रहीय पिण्ड मात्र नहीं हैं। अतः वे लुप्त सूर्य हैं। दूसरी ओर वाष्पीय नीहारिका खण्डों का एक अंश हमारे तारामण्टल के अन्तर्गत है। ये ऐसे सूर्य है जो अभी पूरे नहीं बने हैं और पूर्ण सूर्य के विकास की प्रक्रिया के मध्यम से गुजर रहे हैं। पृथक् नीहारिका पुंज से सौर मण्डल का आविर्भाव किस तरह हुआ है, यह लाप्लास आदि ज्योतिषियों ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया

है।

ऐंगेल्स ने आगे कहा कि—"इस तरह बने अलग-अलग पिण्डा यानी सूर्यो एव ग्रहो और उपग्रहो मे भूत द्रव्य गति का जो रूप प्रचलित होता है, वह वही है जिसे हम ऊष्मा कहते हैं। सूर्य का इस समय जो तापमान है, उसकी अवस्था मे भी तत्वो के रासायनिक यौगिक का प्रश्न नही उठता। ऐसी अवस्था मे ऊष्मा किस हद तक बिजली या चुम्बकत्व मे परिवर्तित होती है यह अविरत सौर अवलोकन से ही ज्ञात हो सकेगा। इसे प्रामाणित ही समझना चाहिए कि सूर्य मे होने वाली यान्त्रिक गति ऊष्मा और गुरुत्वाकर्षण की टक्कर से ही उत्पन्न होती हैं।"

पृथक् पिण्ड जितने ही छोटे होते है उतनी ही जल्दी वे ठण्डे पड जाते हैं। सबसे पहले उपग्रह, क्षुद्र ग्रह, और उल्का शीतल होते हैं जैसे कि हमारा चन्द्रमा दीर्घ काल से बुझा हुआ है। ग्रह इससे अधिक धीमे-धीमे ठण्डे होते हैं और केन्द्रीय पिण्ड सबसे अधिक धीमे-धीमे।

गति, ऊर्जा और रचना तथा विघटन के सम्बन्ध

जैसे जैसे रसायन शास्त्र का विकास होता जाता है वैसे वैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के ये सिद्धान्त जिन्हे महामुनि ऐंगेल्स ने आज से ०० साल पहले देखा था, अधिकाधिक स्पष्ट एव दृष्टिगोचर होते जाते। पदार्थ अर्थात् मूल तत्वो का द्वन्द्वात्मक रूप उन्हे निरन्तर गतिशील रखता है। गति से ऊर्जा पैदा होती है। ऊर्जा से विकास सभव होना है कि रचना का मूल कारण बनता है और ज्योंही ऊर्जा क्षीण होने लगती है वैस ही रचना का रूप बदलने लगता है और रसायन शास्त्र की परिभाषा मे वस्तु का विघटन और लौकिक भाषा मे विनाश होने लगना। जो सिद्धान्त कुम्हार के घडे पर लागू होता है वही महती पृथ्वी, चाँद, सूरज और समस्त ब्रह्माण्डीय पिण्डा और विशालतम काया पर लागू होता है।

पिण्डो मे क्रमिक शीतलता के आने जाने के साथ ही यह स्पष्ट हो

जाता है कि एक दूसरे की क्रिया पर उनका रूप एवं अस्तित्व कितना निर्भर करता है। जो तत्व पहले रासायनिक तौर पर एक दूसरे से उदासीन होते हैं वे ही विशेष मात्रा में ऊर्जा का संयोग पाकर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होने लगते हैं। उनका संयोग एवं रचना होने लगती है और इसकी विपरीत प्रतिक्रिया के शुरू होते ही विनाश का क्षण आने लगता है। गैसों के रूप में रहने वाले भूत द्रव्य पहले द्रव और फिर ठोस रूप में अवतरित होते हैं और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ बदल जाते हैं।

यदि यह विवेचना सही हो तो यह भी मानना चाहिए कि जब किसी ग्रह का ठोस खोल बन जाता है और उसका गैस एवं द्रव का रूप बदल जाता है तो उसके धरातल पर जल के आगार बन जाते हैं जैसे कभी हमारी धरती पर बने थे और यह इसका सबूत है केन्द्रीय पिण्ड (सूर्य) से प्राप्त ऊर्जा के मुकाबिले उसकी आन्तरिक ऊर्जा अधिकाधिक कम होती गई जिससे उसके चारों ओर वायुमण्डल का एक परिवेश बनता गया और सूर्य की घातक किरणों के विरोध से एक अभेद्य कवच की रचना सम्भव हो सकी जिससे करोड़ों वर्षों के बाद ही सही, धरती का तपना एवं जलाशयों का खौलते रहना बन्द हो सका और उन जलाशयों में पहली वनस्पतियों या कि पहले जीवधारियों की सृष्टि सम्पन्न हुई। बाह्य ऊर्जा के घटते हुए प्रभाव ने धरती को उसके गर्भाशय तक ठोस होने में सहायता दी जबकि करोड़ों-अरबों सालों के बाद भी अब तक धरती के पेट में लावा बहता रहता है। यद्यपि यह बता सकना सम्भव नहीं है कि कितना ताप कम होने पर या समशीतोष्ण होने पर जीवन-धारण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार होती हैं, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि पृथ्वी या किसी भी ग्रह के शान्त होने पर करोड़ों वर्ष बाद ही ऐसी परिस्थिति पैदा हो सकती हैं।

जो लोग यह मानते हैं कि वर्तमान मनुष्य का अवतार प्रारम्भ से ही इसी रूप में हुआ था जिसमें वह आज है, वे उतने ही भ्रान्तिमान हैं जितने वे लोग जो यह मानते हैं कि किसी दिन धरती आज की ही भांति अचा-

नक पानी मे से निकल आई थी। सबसे पहले पानी मे काई जमी होगी और आकारहीन एल्वामीन केन्द्रक और फिर प्रथम कोशिका उत्पन्न हुई होगी। इसी प्रथम कोशिका ने आगे चलकर जीव जगत की नींव रखी। पहले उद्भिज आये। फिर पशु आये। पशुओ की सैकडो योनियो तथा वशो का विकास हुआ और अन्त मे एक जीव आया जो प्रकृति की रचना क्षमता की अद्भुत देन, उसका सृष्टिकौशल एव उसकी शिल्पकारिता की उच्चतम पराकाष्ठा है। वह है मानव जाति-मस्तिष्क का चमत्कार रखने वाली उसकी अद्भुत रचना।

और इस मनुष्य की रचना उसके हाथो ने की है जिनसे वह श्रम करता था इस श्रम की उपादेयता ने उसे चेतना, भाषा, दर्शन, विज्ञान और न जाने क्या-क्या प्रदान कर दिया।

"जातस्य ही ध्रुव मृत्यु ध्रुव जन्म मतस्य च"

परन्तु जो पैदा होता है वह अवश्य मरता है और जो मरता है वह अवश्यमेव पैदा होता है। आकाश मे भभकता सूरज, अनन्त व्योम मे टिमटिमाते करोडो-अरबो तारे, धरती के सबसे पडोस मे विचरता गर्वित चाँद और हजारो-लाखो मील प्रतिघण्टा के वेग से दौडती यह वसुन्धरा किसी दिन नही रहेगी, हम भी नही रहेंगे, जीव-जन्तु, समुद्र, वातावरण, वायु, तेज और वनस्पति कुछ भी नही रहेगा। क्या रहेगा—इसका उत्तर ऋग्वेद के ऋषि की भाषा मे नही बल्कि वैज्ञानिक ऋषि की भाषा मे यह दिया जा सकता है कि इसी महाविनाश के गाल मे से दूसरे अनेक चाँद, तारे, सूरज, धरतियाँ और जीव-जन्तु पैदा होगे। और हमारा क्या होगा—हमारी प्रेमिका तथा बच्चो का क्या होगा ? किसकी चिन्ता और जिक्र करते हो ? अनन्त ब्रह्माण्ड मे अन्तहीन सृजन और विनाश की इस महा-लीला म मेरी और तुम्हारी हैसियत ही क्या है ? अपने बारे मे मत सोचो। जिस धरती पर पाँव रखते हैं, जिस वायु मे सास लेते है, जिस सूरज को देखकर जीते हैं, वे सभी नही रहेंगे। इसमे अभी करोडो साल लगेंगे। एक-

दो अरब वर्ष भी लग सकते हैं। परन्तु वह दिन आयेगा ही जब सूरज की गरमी कम होती चली जायेगी, जब दोनों ध्रुवों की ओर से फैलती बर्फ को पिघलाने में सूर्य असमर्थ हो जायेगा, जब मानव-जाति अधिकाधिक विषुवत रेखा की ओर सिमटती चली जायेगी—परन्तु वहाँ भी जीवन-धारण के लिए आवश्यक ऊर्जा का मिलना सम्भव नहीं होगा और जीवन-लीला समाप्त हो जायेगी। जो अफ्रीका और धूप में तपते मुल्क मानव सभ्यता के सबसे बाद के केन्द्र हैं, वहीं पर मानव सभ्यता का अन्तिम पड़ाव भी होगा और वह नष्ट हो जायेगी।

और एक दिन चन्द्रमा के समान बुझा हुआ और बर्फ से ढका हुआ पृथ्वी का गोला अनन्त अन्धकार में लीन सूर्य की परिक्रमा करता-करता उसी पर जा गिरेगा तथा भस्म हो जायेगा। कुछ ग्रहों का पहले ही यह हाल हो चुका होगा और कुछ इसके बाद बलि चढ़ जायेंगे। और हमारा यह देदीप्यमान सूर्य भी सैकड़ों उपग्रहों, उल्काओं तथा ग्रहों के शरीरों को अपने पेट में समाकर बुझा-बुझा सा ब्रह्माण्डीय द्वीप का चक्कर काटता रहेगा। वह ब्रह्माण्डीय आकाश में अकेला घूमता रहेगा। और जो हाल हमारे सौर मण्डल का होगा उससे भिन्न भाग्य ब्रह्माण्डीय द्वीप के अन्य सौर मण्डलों का नहीं होगा। वही हाल उन अगणित सौर मण्डलों का होगा जिनका प्रकाश शायद धरती पर तब तक न पहुँचे जब तक एक भी जीवित मानव शेष है।

प्रश्न उठता है कि यह मुर्दा सूरज क्या अनन्त काल तक इसी भांति अनन्त आकाश में चक्कर काटता रह जायेगा, और दूसरे सौर मण्डल भी इसी प्रकार समाधि में विलीन हो जायेंगे या प्रकृति में वह शक्ति है जो मृतों को फिर से जीवित कर दे या ऐसी परिस्थितियों का उदय कर दे जो श्मशान में फिर से जीवन का वसन्त लहलहा दें? प्रश्न बहुत गम्भीर एवं बड़ा है तथा बड़े ही आदमी के शब्दों में उत्तर दिया जा सकता है। ऐंगेल्स कहते हैं :

"भूत द्रव्य की गति केवल भोंडी यांत्रिक गति मात्र नहीं है, केवल

स्थान परिवर्तन नही है। वह विद्युत और चुम्बकीय प्रतिबल है, रासायनिक योग और विच्छेद है, जीवन है और अन्तत चेतना है। यह कहना कि भूत द्रव्य ने अपने अस्तित्व के समूचे असीम काल मे केवल एक बार और वह भी एक ऐसी अल्प अवधि के लिए जो उसकी अनन्तता की तुलना मे अत्यन्त क्षुद्र अवधि है, अपने को, अपनी गति को विभेदित करने मे और इस प्रकार इस गति की सम्पूर्ण सम्पदा को प्रकट करने मे समर्थ पाया और यह कि इसके पहले और बाद वह अनन्त काल के लिए केवल स्थान परिवर्तन मात्र तक ही सीमित है, वस्तुत. यह कहने के समान है कि भूत द्रव्य विनाशी और गति क्षणभगुर है। गति की अविनाशिता केवल परिमाणात्मक ही नही हो सकती। उसकी गुणात्मक रूप मे भी परिकल्पना करनी चाहिए। वह भूत द्रव्य गति के अधिकार से वचित हो चुका है। जिसके विशुद्ध यान्त्रिक स्थान परिवर्तनो मे अनुकूल अवस्थाओ म ऊर्जा, विद्युत, रासायनिक क्रिया या जीवन मे रूपातरित होने की सभावना बेशक सम्मिलित है, परन्तु जो अपने अन्दर से इन अवस्थाओ को उत्पन्न करने की क्षमता नही रखता। अपन उपयुक्त विभिन्न रूपा मे परिवर्तित होने की क्षमता गँवा देने वाली गति मे बेशक अब भी समाव्यता हो सकती है पर प्रभावकारिता उसमे नही रह गई है। अत आंशिक रूप से विनष्ट हो चुकी है। परन्तु न ऐसे पदार्थ की और न ऐसी गति की ही कल्पना की जा सकती है।" (प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति)।

इस प्रसग मे ऍगेल्स ने प्रश्न की जो शानदार विवेचना की है, वह बहुत हृदयग्राही है। यद्यपि लेखक कुटेशन बाजी मे विश्वास नही करता और न उसका आदी है, परन्तु इस महान् दर्शनपूर्ण विवेचना के शब्दो के साथ ही इस प्रश्न का समाधान करना चाहता है। एगेल्स कहते है कि —

"इतना तो निश्चित है कि एक ऐसा वक्त था जब हमारे ब्रह्माण्डीय द्वीप के भूत द्रव्य ने गति की, (वह गति किस किस्म की थी, हम यह नही जानते) एक इतनी बडी मात्रा को ऊष्मा मे परिवर्तित किया था कि उससे बडे बडे सौरमण्डलो का विकास हुआ, जिनमे (मेंडलर के कथना-

नुसार) कम से कम दो करोड़ सितारे शामिल हैं, जिनका इसी भांति धीरे-धीरे बुझना भी निश्चित है। यह परिवर्त्तन किस तरह से हुआ? इसके बारे में हम उतना ही कम जानते हैं जितना कम धर्मपिता सेक्की यह जानते हैं कि क्या हमारे सौरमण्डल के भावी मृत शरीर के अवशेष ऐसी कच्ची सामग्री में बदल सकेंगे जिससे नये सौर मण्डलों की रचना हो सके। लेकिन यहाँ आकर हमें किसी सृष्टि कर्त्ता को स्वीकार करना होगा या फिर यह निष्कर्ष मानने को बाध्य होना पड़ेगा कि हमारे ब्रह्माण्डीय द्वीप के सौर मण्डलों की तापदीप्त कच्ची सामग्री गति के रूपान्तरणों द्वारा प्राकृतिक रूप से पैदा हुई थी। ये रूपान्तरण गतिमान भूत द्रव्य में स्वभावतया अन्तर्भूत हैं और इसलिए उनकी अवस्थायें भूत द्रव्य द्वारा अवश्य पुनारत्पादित होंगी, भले ही वे करोड़ों साल के बाद, कमोवेश संयोगवश, किन्तु उस अनिवार्यता के साथ जो संयोग में भी अन्तर्भूत है, पुनरुत्पादित हों।

"ऐसे रूपान्तरण की संभावना अधिकाधिक मानी जा रही है। लोग इस मत पर पहुँच रहे हैं कि आकाशीय पिण्ड अन्ततः एक-दूसरे में गिर पड़ेंगे और इस ऊष्मा का भी हिसाब-किताब लगाया जाने लगा है जो ऐसी टक्करों में पैदा होगी। ज्योतिष विज्ञान में उल्लिखित नये सितारों का अचानक धधक उठना, और उतने ही अचानक रूप से परिचित सितारों की चमक बढ़ जाना आदि चीजें इन टक्करों से सबसे आसानी से समझी जा सकती है। न केवल हमारा ग्रह समूह सूर्य के चारों ओर, और हमारा सूर्य हमारे ब्रह्माण्डीय द्वीप के अन्दर घूमता है, बल्कि हमारा पूरा ब्रह्माण्डीय द्वीप भी अन्तरिक्ष में अन्य ब्रह्माण्डीय द्वीपों के साथ अस्थायी, सापेक्ष सन्तुलन की स्थिति में घूमता है, क्योंकि स्वच्छन्द रूप से तैरते पिण्डों का सापेक्ष सन्तुलन भी वहीं कायम रह सकता है जहाँ गति परस्पर सम्बद्ध हो। और बहुत से लोग यह मानते हैं कि अन्तरिक्ष में ताप सर्वत्र एक सा नहीं है। अन्तिम बात यह है कि हम यह जानते हैं कि एक अत्यन्त क्षुद्र अंश को छोड़ कर हमारे ब्रह्माण्डीय द्वीप के अगणित सूर्यों की ऊष्मा अन्तरिक्ष में

विलुप्त हो जाती है, वह एक अश सेंटीग्रेड के दस लाखवें भाग के बराबर भी अन्तरिक्ष का ताप नही बढा सकती। ऊष्मा की यह विपुल मात्रा सारी की सारी कहां चली जाती है ? क्या वह अन्तरिक्ष को गरम करने की चेष्टा मे सदा के लिए बिखर कर बेकार हो जाती है ? क्या व्यवहार से उसका अस्तित्व नही रह गया है ? क्या केवल सिद्धान्त के नाते उसका अस्तित्व अब भी इस रूप में कायम है कि अन्तरिक्ष एक डिगरी के १० या अधिक शून्यो से आरभ होने वाले दशमलव अश तक गरम हो गया है। ऐसी धारणा गति की अविनाशिता का निषेध करती है। वह इस सभावना को स्वीकार कर लेती है कि ब्रह्माण्डीय पिण्डो के एक एक कर एक-दूसरे में गिरते जाने के जरिये सभी विद्यमान यात्रिक गति ऊष्मा मे परिवर्तित हो जाएगी और यह ऊष्मा अन्तरिक्ष मे विकसित हो जाएगी जिससे सारी *"शक्ति की अविनाशिता"* के बावजूद सभी गति सामान्यत समाप्त हो जायगी। (प्रसगवश यहाँ यह स्पष्ट होता है कि गति की अविनाशिता के बदले "शक्ति की अविनाशिता" पद कितना अशुद्ध है)। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि किसी न किसी विधि से (कुछ समय बाद प्रकृति विज्ञान का कर्त्तव्य इसे दर्शाना होगा) अन्तरिक्ष मे विकसित ऊष्मा गति के किसी अन्य रूप में अवश्य ही परिवर्तित होनी चाहिए जिस रूप मे वह फिर सचित एव सक्रिय की जा सके। इस तरह, बुझे सूर्यों के ताप दीप्त वाष्प मे पुन परिवर्तित होने के मार्ग मे मुख्य कठिनाई दूर हो जाती है।

"बाकी तो यह है कि अनन्त काल मे विश्वो का सनातन पूर्वानुपरक्रम अनन्त दिक् मे अगणित विश्वो के सह-अस्तित्व का ही तर्कसगत परिपूरक है। यह ऐसा सिद्धान्त है जिसकी आवश्यकता को यांकी ड्रेपर का सिद्धान्त-विरोधी मस्तिष्क भी स्वीकार करने को बाध्य हुआ।

"भूत द्रव्य अनन्त चक्र मे घूमता रहता है। यह चक्र निश्चय ही अपनी कक्षा ऐसी कालावधियो मे पूर्ण करता है जिनके माप के लिए हमारा भौमिक वर्ष कदापि पर्याप्त नही है। इस चक्र मे उच्चतम विकास के लिए,

कार्बनिक जीवन के लिए और उससे भी अधिक अपने एवं प्रकृति के प्रति चेतन प्राणियों के लिए उतनी ही अल्प कालावधि निर्धारित है, जितना अल्प दिक् जीवन एवं आत्म चेतना के क्रियाशील होने के लिए निर्धारित है। इस चक्र में भूत द्रव्य के अस्तित्व की प्रत्येक परिमित विधा, वह सूर्य हो या नीहारिका वाष्प हो, एकाकी पशु हो, पशु प्रजाति हो, रासायनिक योग हो या विघटन हो, समान रूप से क्षण भंगुर होती है। और उसमें शाश्वत रूप से परिवर्तनशील, शाश्वत रूप से प्रवाहमान भूत द्रव्य के अतिरिक्त और उसकी गति तथा परिवर्तन को शासित करने वाले नियमों के अतिरिक्त अन्य कोई चीज शाश्वत नहीं है।। पर यह चक्र चाहे जितनी बार और जितने कठोर दुर्निवार रूप में काल और दिक् में पूर्ण हो, चाहे जितने करोड़ सूर्य और पृथ्वी पैदा हों और मिट जाएं, चाहे जितना ही दीर्घ समय एक सौर मण्डल के अन्दर केवल एक ग्रह के अन्दर ही कार्बनिक जीवन की अवस्थाओं के उत्पन्न होने में लगे, चाहे जितने अगणित जीवी आकार लुप्त हो जाएं, इससे पहले कि उनके मध्य से सोचने की क्षमता रखने वाले मस्तिष्क से युक्त प्राणी विकसित हो और एक अति अल्प अवधि के लिए जीवनोपयुक्त अवस्थायें प्राप्त करें तथा बाद में निर्ममतापूर्वक संहार भी कर दिये जाएं, परन्तु एक चीज निश्चित है—भूत द्रव्य अपने समस्त रूपान्तरों में भी शाश्वत रूप से वहीं का वही रहता है; उसके कोई गुण कभी खो नहीं सकते; इसलिए यह भी निश्चित है कि जिस लौह आवश्यकता के वशीभूत होकर वह अपनी सर्वोच्च सृष्टि—चिन्तनशील मस्तिष्क, को पृथ्वी से फिर मिटा देगा, उसी आवश्यकता के वशीभूत होकर वह अन्यत्र एवं किसी अन्य काल में उसका फिर सृजन भी करेगा।"

ज्ञान मूल है या वस्तु ?

ज्ञान अर्जित किया जाता है

ज्ञान के सम्बन्ध मे आत्मवादियों की धारणा असत्य है। जैसे मानव भोजन, वस्त्र, औषधि और पुस्तक आदि का अर्जन करता है, उसके लिए परिश्रम करता है, साधन जुटाता है और अनुकूल परिस्थितिया तैयार करता है, वैसे ही वह सामाजिक श्रम के द्वारा अपना ज्ञान अर्जित करता है। मानव श्रम ज्ञान का प्रारम्भ बिन्दु और आधार है। श्रम मे सामाजिकता इसलिए जरूरी मानी जाती है कि केवल व्यक्तिगत रूप मे किये गये और समाज से अलग कटे हुए व्यक्ति का श्रम ज्ञान के त्वरित विकास का कारण नहीं बनता।

ज्ञान एक स्थान पर कभी स्थिर नही रहता। वह निरन्तर बदलता है, वह गतिमान और विकासशील रहता है। वह स्थूल से सूक्ष्म और सरल से जटिल होता जाता है। मानव समाज का निरन्तर परिवर्तनशील व्यवहार अर्थात् श्रम उसमे निरन्तर परिवर्तन लाता है।

ज्ञान का प्रारम्भ सीधे-सादे ढग से होता है। ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से मस्तिष्क द्वारा बाहर की दुनिया का हम अध्ययन करते हैं। किसी अपरिचित वस्तु का अध्ययन करते समय हम शकित से होकर पहले उसकी जाच करते हैं, दूर से देखते हैं, विश्वास जमने पर छूते है और अधिक भरोसा होने पर सूघते हैं। प्रत्यक्ष अनुभूति ज्ञान के मार्ग की पहली मजिल है। ज्ञानेन्द्रिया ऐसे द्वार हैं जिनसे होकर बाह्य जगत् मानव मस्तिष्क मे "प्रवेश करता है"।

वस्तुओं के गुण-धर्म हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर आघात करते है। वे कुछ संवेदनाओं को जन्म देते हैं। संवेदना किसी वस्तु के वैयक्तिक गुण, विशिष्टताओं अथवा पहलुओं का प्रतिबिम्ब (अक्स) होती है। मनुष्यों के शरीर में संवेदनाओं की उत्पत्ति के लिए आवश्यक दैहिक यन्त्र होता है। इसके तीन उपकरण होते हैं। ज्ञानेन्द्रियां, स्नायु मंडली, मस्तिष्क के विभिन्न क्षेत्र।

जैसे तार के माध्यम से बिजली प्रवाहित होती है, ठीक उसी तरह, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनायें अत्यधिक नाजुक एवं संवेदनशील स्नायु-मंडली के माध्यम से मानव मस्तिष्क तक पहुंचती हैं। कान में ध्वनि उद्दीपन ध्वनि संवेदना का और प्रकाश उद्दीपन रूप संवेदना का आकार धारण कर लेते हैं। संवेदनायें वस्तुओं के सम्बन्ध में जो सूचनायें प्रदान करती हैं आगे के ज्ञान की उपलब्धि उन्हीं पर निर्भर करती है। यही कारण है कि लेनिन ने संवेदना को "वस्तुगत जगत् की मनोगत प्रतिछाया" कहा है।

ठोस रूप में विद्यमान वस्तुओं का अक्स होने के कारण संवेदना मनुष्य के मस्तिष्क पर उनकी यांत्रिक छाप नहीं है, अर्थात् वही वस्तु रूपांतरेण मानव मस्तिष्क पर जाकर चिपक नहीं जाती है, बल्कि वह भावनात्मक प्रतिछाया है जो मनोगत होती है। वह बाह्य जगत् की वस्तु नहीं बल्कि मनुष्य (कर्त्ता) और मानव जाति की वस्तु है। इसका यह अर्थ हुआ कि इन संवेदनाओं का स्वरूप निश्चित रूप से इस बात से प्रभावित होता है कि उसकी मनोदशा क्या है, व्यक्ति की अपनी चारित्रिक विशेषता क्या है और वह किस सामाजिक परिवेश में रहता है।

यही कारण है कि एक ही बाह्य प्रभाव को भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव करते हैं। जैसे—समान बौद्धिक स्तर वाले दो व्यक्ति एक ही संगीत सुनते हैं। इनमें एक व्यक्ति संगीत के स्वर ज्ञान से परिचित है और उसके ज्ञान लय तथा स्वर के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को पकड़ सकता है। दूसरा व्यक्ति संगीत मर्मज्ञ नहीं है। स्पष्ट है दोनों की संवेदनाओं का

समान प्रभाव दृष्टिगोचर नही होगा। एक है कि चुटकिया बजाने लगता है, उसका सिर घूमने लगता है और पाव मटकाने लगता है और दूसरा केवल सुनता रहता है।

परन्तु इसी बात का आत्मवादी विपरीत अर्थ निकालते हैं और कहते हैं कि इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न एव स्नायु मडली द्वारा ढोई गई सवेदनाओ से ही यदि मानव मस्तिष्क मे ज्ञान पैदा होता है तो इन दोनो व्यक्तियो पर सगीत का प्रभाव एक समान पडना चाहिए था। पीछे बताया गया है कि किस प्रकार सामाजिक परिवेश, व्यक्ति की मनोदशा एव अन्य वस्तुओ का मानव चेतना पर प्रभाव पडता है।

ज्ञान से तार्किक ज्ञान

सवेदनात्मक ज्ञान हमे वस्तुओं के बाहरी पहलुओ, अगों की धारणा प्रदान करता है। इससे हम यह ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं कि बिजली का लट्टू जल रहा है। किन्तु यह कल्पना करना सभव नही है कि उसमें बिजली के इलेक्ट्रानो की धारा कितने वेग से बह रही है। इसी प्रकार, ज्ञानेन्द्रियों से प्रकाश के प्रचण्ड वेग का, परमाणुओं में मौलिक कणो के स्पन्दन का तथा प्राकृतिक और सामाजिक जीवन मे जटिल व्यापारो का अनुभव कर सकना सभव नही है।

इन सवेदनशील ज्ञानो से ही ज्ञान की एक नई मजिल का सूत्रपात हुआ है जिसे सामान्य एव अविशिष्ट ज्ञान कहते है। यह तार्किक ज्ञान कहलाता है जो वस्तु के मुख्य गुण धर्मों और लक्षणो को प्रकट करता है। यही चिंतन कहलाता है जिससे मनुष्य व्यापारो तथा घटनाओ के प्रकट रूपों को अधिशासित करने वाले नियमो का ज्ञान प्राप्त करता है और इससे मनुष्य के व्यावहारिक कार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त होता है।

ज्ञान और धारणा

तार्किक चिन्तन का मुख्य रूप धारणा है। धारणा वस्तुओं में उनके

सभी गुणों का नहीं बल्कि सारभूत और आम पहलुओं को प्रतिबिम्बित करती है। इसमें गौण लक्षणों की उपेक्षा हो जाती है। जैसे 'मानव' नामक धारणा को लें। इसमें आदमी की सभी विशेषतायें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं। जैसे—उसका कद, आहार, आयु, निवास-स्थान और स्वास्थ्य आदि, बल्कि सोचने-समझने की पद्धति, काम करने के तरीके तथा सामाजिक जीवन आदि सामान्य गुण धर्म ही परिलक्षित होते हैं जो कि मानव मात्र से सम्बन्ध रखते हैं।

यही बात वृक्ष, पशु, पक्षी, वर्ग और उत्पादन आदि से सम्बन्ध रखती है।

धारणाओं के निर्माण में विश्लेषण और संश्लेषण जैसी तार्किक विधियां तथा वाद-विवाद (विचार-विमर्श) आदि तरीके बहुत प्रभावशाली होते हैं। विश्लेषण वह प्रणाली है जिसमें किसी वस्तु के सारभूत तत्वों को अर्थात् जिन्हें लेकर उस वस्तु का निर्माण होता है किसी वैचारिक अथवा रासायनिक प्रणाली से अलग-अलग करना और फिर उसकी विवेचना करना। संश्लेषण प्रणाली में अलग-अलग घटकों को एकत्रित करके विवेचना की जाती है। यद्यपि विश्लेषण और संश्लेषण दो विरोधी एवं भिन्न प्रक्रियायें हैं परन्तु उन दोनों से ही हम किसी तार्किक ज्ञान तक पहुंचते हैं।

ऊपर से देखने में ऐसा अनुभव हो सकता है कि इन्द्रियों की संवेदनशीलता से उपलब्ध ज्ञान के मुकाबिले ये धारणायें कम विश्वसनीय एवं एकांगी हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। संवेदना जनित ज्ञान वस्तु के एक ही रूप का बोध करवाता है जबकि धारणा उसके सर्वांग एवं पूरे पुंज तथा उनकी बहुलता को प्रकट करती है।

संवेदनात्मक ज्ञान से धारणात्मक ज्ञान वास्तव में निम्नतर से उच्चतर की ओर अथवा परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन की ओर महती छलांग है। वस्तुओं के सतही या ऊपरी ज्ञान से उनके आभ्यन्तर ज्ञान की ओर संक्रमण से मनुष्यों के व्यवहार में भारी सुगमता होती है। धारणायें

परिवर्तनशील विश्व का प्रतिबिम्बन करती हैं और वे खुद ही परिवर्तनशील रहती हैं।

इसी प्रकार, चिन्तन के अन्य रूप—निर्णय और निष्कर्ष धारणाओ के आधार पर बनते हैं।

निर्णय चिन्तन का वह रूप है जिसमे बलपूर्वक किसी धारणा का मण्डन या खण्डन किया जाता है। जैसे—समाजवाद शाति है। एव मार्क्सवाद कोई कठ मुल्लापन या मतवाद नही है, आदि। निष्कर्ष अन्य निर्णयो के आधार पर प्राप्त नये निर्णय को कहते हैं। इससे हम एक नया ज्ञान प्राप्त करते हैं।

अनुमान और सिद्धान्त जैसे ज्ञान के उच्चतर रूपो मे धारणाओ, निर्णयो और निष्कर्षों के जटिल योग निहित होते हैं। व्यापारो, घटनाओ और नियमो सम्बन्धी किसी मान्यता को अनुमान कहते हैं जहा एक घटना के साथ अनिवार्य रूप से जुडी दूसरी घटना और वस्तु का निसदिग्ध ज्ञान होता है, जैसे—'जहा धुआ वहा आग'। 'ट्रेन आ गई है, टिकिट बंट रहे होगे' आदि।

इस प्रकार, ज्ञान अपने द्वन्द्वात्मक विकास मे एक लम्बा मार्ग तय करता है। वह सरलतम सवेदनाओ से जटिल वैज्ञानिक सिद्धान्तो की यात्रा करता है।

सवेदनात्मक और तार्किक ज्ञान मे एकता

इन दोनो ज्ञानो की आपस मे एकता है। दुरूह तार्किक ज्ञान सवेदनात्मक ज्ञान के अभाव मे असभव है। प्रत्यक्ष से अधिक प्रामाणिक कोई दूसरा ज्ञान साधन नही है और ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्रदान की गई सूचना ही वह सामग्री होती है जिस पर किसी धारणा का निर्माण होता है। विचार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही हो सकती जिसे मनुष्य को उसकी ज्ञानेन्द्रियों ने प्रदान न किया हो। इसमे सन्देह नही है कि अविदिष्ट विचार, मा[illegible] ज्ञान सवेदनाओं के आधार पर उदित होने के बाद सवेदनात्मक

अधिक गहराई में जाता है और उसे समृद्ध करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाणवादी और हेतुवादी

प्रत्यक्ष प्रमाणवादी जिन्हें अनुभूतिवादी (एम्पिरिसिज्म आधुनिक परिभाषा में) कहा जाता है इस तार्किक एवं अविशिष्ट ज्ञान को महत्व नहीं देते। उनका कहना है कि इन्द्रियों के संवेदन से उत्पन्न ज्ञान ही वास्तव में सही एवं प्रामाणिक है। वे कहते हैं कि कोई भी वस्तु धारणाओं से नहीं मिलती और धारणा मनुष्य की कल्पना मात्र है।

उसके विपरीत, हेतुवादी ज्ञानेन्द्रियों पर भरोसा नहीं करते और कहते हैं कि शुद्ध बुद्धि अथवा अविशिष्ट ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। मनुष्य विश्व का सही ज्ञान अन्तःदृष्टि द्वारा ही प्राप्त कर सकता है न कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान को संवेदनात्मक ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष प्रमाणवादी यह भूल जाता है कि जिन बौद्धिक धारणाओं के आधार पर मानव अपने व्यवहार एवं क्रिया-कलाप को प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करता है, वे ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध नहीं होतीं और न वस्तु रूप होती है बल्कि मानसिक क्रिया-कलाप है। इसलिए, प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्व बताने के नाम पर और ज्ञानेन्द्रिय संवेदनाओं की श्रेष्ठता का वर्णन करने के नाम पर उस ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो मानव समाज की बौद्धिक क्षेत्र से सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। इसी प्रकार, उस अन्तःदृष्टि का क्या करें जो समस्त ज्ञानेन्द्रियों से जनित संवेदनात्मक ज्ञान को भुलाना चाहती है, जिससे समस्त ज्ञानों और विज्ञानों का मार्ग प्रशस्त होता है, उस प्रत्यक्ष प्रमाण को देखने से मना करता है और बाहरी आंख बन्द करके केवल "अन्दर की आँख" खोलना चाहता है। अन्दर क्या है जिसे यह शून्य आंख देखना चाहती है? जो बाहर है, वही अन्दर है। बाहर से अन्दर जाता है, अन्दर तो केवल मानव मस्तिष्क है जो केवल बाहर के अचेतन

पदार्थों से बना है और जिसके बारे में पिछले अध्याय मे काफी कहा जा चुका है।

इस प्रकार, ज्ञान व्यवहार के जरिये सवेदनात्मक से तार्किक ज्ञान मे विकसित होता है। स्वाभाविक है कि ज्ञान के परिणामो को जांचने के लिए यह परीक्षा करनी पडती है कि वह सच है या नही। सत्य ज्ञान ही व्यवहार मे सहायक होता है न कि असत्य ज्ञान।

सत्य ज्ञान क्या है ?

आत्मवादी या भावनावादी सत्य को मनोगत मानते है कि यह किसी के मन की धारणा ही है कि वह किसी के स्वरूप का वर्णन करके उसे ही सत्य प्रतिपादित करे। आत्मवादी किसी वस्तु के वास्तविक रूप की उपेक्षा करके मनोगत ढग से उसका प्रतिपादन करता है। यूनानी दार्शनिक कहा करते थे कि—"मनुष्य ही सभी चीजो का मापदण्ड है।"

तब क्या सत्य मनुष्य की इच्छा का मोहताज है ? वह उसको जो भी रूप देना चाहे, दे सकता है और वही सत्य होगा ? यह एक मौलिक प्रश्न है कि सत्य उस व्यक्ति की मनोदशा अथवा मस्तिष्क पर निर्भर करता है जिसके मस्तिष्क मे सत्य का आविर्भाव हुआ है या कि वह उस वस्तु पर निर्भर करता है जिसे वह प्रतिबिम्बित करता है ?

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दूसरी ही बात मे विश्वास करता है और सत्य के सम्बन्ध मे यही वैज्ञानिक धारणा है । कोई कहता है ईश्वर निराकार है, कोई साकार बताता है, कोई निर्गुण, कोई शेषनाग फणवासी, कोई सातवें आसमान पर, कोई चौदहवें पर और कोई कैलाश पर्वत पर। ईश्वर क्या हुआ एक खासा-अच्छा बहुरूपिया हो गया। मार्क्सवाद कहता है कि ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान असत्य है। इसलिए कि उसका ईश्वर से कोई वास्ता नहीं बल्कि जिनके मस्तिष्क मे इस 'सत्य' का आविर्भाव हुआ है, यह केवल उन्ही के मस्तिष्क एव मनोदशा से सम्बन्ध रखता है।

सत्य ज्ञान वास्तव मे किसी वस्तु का ऐसा ज्ञान है जो उस वस्तु को

वस्तुगत रूप से सही-सही प्रतिबिम्बित करता है और इस प्रकार, जो उसके गुण धर्मों के सर्वथा अनुरूप हो। जैसे यह ज्ञान कि "समस्त काय परमाणुओं से बने हैं," "पृथ्वी मनुष्य के पहले से विद्यमान है" अथवा "जनता ही इतिहास की निर्माता है" आदि।

मार्क्सवाद सत्य को अमूर्त या मनोगत नहीं बल्कि वस्तुगत मानता है। इसलिए, उसकी अन्तर्वस्तु मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करती। उदाहरण के लिए यदि कहा जाए कि "पृथ्वी गोल है," तो यह उक्ति इसलिए सत्य है कि पृथ्वी का आकार वास्तव में गोल है न कि इसलिए सत्य है कि किसी व्यक्ति विशेष के मुख से यह वाक्य निकला है। इसलिए कि व्यक्ति विशेष एवं समस्त मानवों के आने से पहले भी पृथ्वी थी और गोल ही थी।

इसी प्रकार, पृथ्वी गोल इसलिए नहीं हो गई कि किसी व्यक्ति विशेष की ऐसी इच्छा थी या उसने ऐसा कह दिया था। उसका गोल आकार प्राकृतिक शक्तियों ने बनाया है।

सापेक्ष सत्य और परम सत्य

ज्ञान प्राप्त करने की जिस प्रणाली का विस्तृत विवेचन ऊपर किया गया है, उससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह सत्य है। परन्तु यह सापेक्ष सत्य होता है या परम सत्य है ?

जिस ज्ञान में वस्तु का समग्र रूप प्रकट होता है वह परम सत्य कहलाता है तथा यथार्थ के साथ यदि उसका केवल आंशिक रूप ही मेल खाता है तो वह सापेक्ष सत्य कहलाता है।

क्या परम सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? मार्क्सवाद सिद्धान्त रूप में इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देता है। इसलिए कि विश्व की कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है, सभी कुछ जानने योग्य है और मानव मस्तिष्क की क्षमताओं का विस्तार सर्वथा अनन्त एवं असीमित है। फिर भी किसी पीढ़ी के लिये ज्ञान प्राप्ति में अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों,

ज्ञान उपकरणो तथा भौतिक एव मनोदशाओ की सीमाओ की उपेक्षा करके ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही होता। इसलिए, प्रत्येक ज्ञान जिसे हम प्राप्त करते हैं, वह सापेक्ष सत्य होता है और इन अर्थों मे वह परम सत्य भी होता है कि वस्तु के समग्र रूप तक पहुचाने के लिए मार्ग तथा सम्भावनाओ के द्वार खोल देता है। उदाहरणस्वरूप, परमाणुओ के आधुनिक सिद्धान्त को लें। मुख्यतया यह यथार्थ से मेल खाता है। परन्तु समग्रतया यह सापेक्ष सत्य ही बना हुआ है। हम यह नही कह सकते कि मनुष्य परमाणु के सम्बन्ध मे सब कुछ जान गया है। परमाणु के गर्भ मे अभी भी इतने रहस्य छिपे हुए है कि उनका पता लगाने मे अभी वैज्ञानिकों की कई पीढिया खपेंगी। अभी विज्ञान को यह पता लगाना बाकी है कि जिन मौलिक कणो से परमाणु की रचना हुई है, उनकी आंतरिक रचना का रहस्य क्या है? परमाणुओ के परिवर्तनो तथा जाति परिवर्तनो का भी अभी पता चलना है। परन्तु इसके साथ ही परमाणु के सम्बन्ध मे जो सापेक्ष सत्य जाना जा चुका है, वह परम सत्य की ओर बढने का महत्वपूर्ण सकेत है।

इस सम्बन्ध मे कामरेड लेनिन ने कहा है कि

"मानव चिन्तन अपनी प्रकृति से ही परम सत्य प्रदान करने मे समर्थ होता है और प्रदान करता भी है। यह परम सत्य सापेक्ष सत्यो के कुल योग से बना होता है। विज्ञान के विकास का हर पग परम सत्य के योग मे नये कण मिलाता है। परन्तु हर वैज्ञानिक प्रस्थापना के सत्य की सीमायें सापेक्ष होती हैं। ये ज्ञान की वृद्धि के साथ कभी बढती और कभी घटती रहती हैं।"—लेनिन सगृहीत रचनायें।

परमाणु के सम्बन्ध मे सापेक्ष ज्ञान पाकर मानव ने इतना तो कर ही लिया है कि उसकी प्रबल एव नि सीम शक्तियो को अपना सेवक बना लिया है। अब वह बिजली पैदा करता है। जहाज और पनडुब्बियाँ चलाता है, रोगो के इलाज करता है और अन्य बहुत से काम करता है।

मनुष्य विश्व के नि सीम विस्तार पर धीरे-धीरे अपनी शक्ति

जाल फैला रहा है। वह चांद तक घूम आया है तथा मंगल और सूर्य की परिक्रमा करने के लिए अपने दूत भेज चुका है। वह धरती के परिवेश का विस्तृत अध्ययन कर रहा है तथा धरती के गर्भ में क्या है, इसकी जानकारी प्राप्त कर रहा हैं। स्पष्ट है कि ये सापेक्ष सत्य के ज्ञान उसे परम सत्य की ओर ले जा रहे है।

बोध (ज्ञान) का आधार आत्मा नहीं

मनुष्य की चेतना, मस्तिष्क पर जब बाहरी जगत का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वस्तुओं का बोध होने लगता है। परन्तु यह घटना भी कभी अकेली नहीं होती बल्कि पूरी प्रक्रिया के रूप में सामने आती है। यह प्रक्रिया ही मस्तिष्क के द्वारा मनुष्य का बाहरी दुनिया के साथ सम्बन्ध जोड़ती है और फिर इन्द्रियों के कम्पन द्वारा मस्तिष्क में वस्तुओं का स्वरूप पहुंचाती है जिससे उनका बोध होता है। इस प्रकार सभी वस्तुओं के बोध (ज्ञान) का मूल कारण इन्द्रियों का कम्पन है। ये कम्पन वस्तु के रूप का सही-सही प्रतिबिम्ब मन पर डालते हैं और इसीलिए वस्तु का बोध उसके गुणों और स्वरूपों का बोध हो जाता है।

परन्तु आत्मवादी दार्शनिक और विशेष रूप से नैयायिक, वैशेषिक तथा वेदान्ती इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि इन्द्रियों का कम्पन भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है, दो भिन्न वस्तुओं से भी इन्द्रियों का कम्पन (संवेदन) समान हो सकता है और कभी-कभी एक ही वस्तु को लेकर दो भिन्न प्रकार के कम्पन सम्भव हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह नहीं माना जा सकता कि इन्द्रियों द्वारा मानव मस्तिष्क पर पड़ा हुआ बाह्य जगत का प्रतिबिम्ब ही बोध है। अतएव बोध या ज्ञान वास्तव में आत्मा का गुण है और अन्दर का ज्ञान ही बाहरी जगत पर अपना प्रतिबिम्ब छोड़ता है। हम अपने ही बोध को बाहरी प्रतिबिम्ब के बाद अनुभव करने लगते है। परन्तु दोनों ही स्थितियों में इन्द्रियों में इन्द्रियों के कम्पन का सिद्धान्त मान्य बैठता है। चाहे तो बाहरी वस्तुओं

का स्वरूप इद्रियो के कम्पन द्वारा मन (मस्तिष्क) तक पहुचता हो और चाहे आत्मा के ज्ञान का प्रतिबिम्ब बाहरी जगत पर पडता हो।

यदि यह भी मान लें कि ज्ञान आत्मा का ही गुण है और वस्तुओ के सम्पर्क से इन्द्रियो के कम्पन (सवेदन) द्वारा मानव मस्तिष्क पर छोडा गया प्रतिविम्ब नही है तो किसी वस्तु के सामने आने पर ही उसका बोध क्या होता है ? किसी वस्तु की अनुपस्थिति मे उनका बोध क्यो नही होता—इसलिए कि अन्दर का प्रतिबिम्ब बाहर आता है जबकि आत्मा की नित्यता के साथ उसका ज्ञान गुण भी नित्य ही होना चाहिए। इसके अलावा, इन्द्रियो के दूषित हो जाने पर अर्थात् उनके नष्ट हो जाने या ठीक ढग से काम न करने पर वस्तु की उपस्थिति मे भी उसका बोध क्यो नही होता ?

इसके अलावा, जब सभी आत्मायें एक समान हैं, सभी नित्य और विभु हैं तथा सभी का स्वाभाविक गुण ज्ञान है जो उत्पन्न नही किया जाता तो सभी मे ज्ञान समान क्यो नही है ? इन्द्रियो के कम्पन मे क्षमता के भेद से ज्ञान की मात्रा मे अन्तर या भेद कैसे आ जाता है। इसके अलावा पशुओ और पुरुषो मे जब आत्मा एक ही समान है तो उनके ज्ञान मे अन्तर कैसे आ जाता है ? औषधियो के प्रयोग से तथा वातावरण के बदल जाने से मन्द बुद्धि कैसे तीव्र बुद्धि हो जाते हैं और तीव्र बुद्धि मन्द बुद्धि हो जाते है, जबकि औषधिया और वातावरण का प्रभाव मानव मस्तिष्क एव इन्द्रियो पर ही पड सकता है न कि आत्मा पर, जो कि 'अभौतिक' है। भौतिक वस्तु का अभौतिक वस्तु पर प्रभाव कैसा ?

यह एक अजीब बात है कि वैसे तो ज्ञान आत्मा का गुण है और वह आत्मा के साथ ही नित्य भी है, परन्तु वस्तु के अस्तित्व तथा इन्द्रियो के साथ सम्पर्क के बिना उसका अस्तित्व सामने नही आता। हम तो ज्ञान को आत्मा का गुण तब मानते जब कोई फूल के अभाव मे भी कोई चीज सूघता, पडोसी के बिना ही अकेला बात करता, किसी के न बोलने पर भी कान लगा कर सुनता, कोई वस्तु न हो तब भी छूता फिरता और

कठिनाई यही है कि किसी के ऐसा करने पर उसके रिश्तेदार रोने लगते हैं तथा उसे पागलखाने में भरती कर आते हैं। जब आदमी पागल हो जाता है तो उसे गल अर्थात बात पा जाती है और आत्मवादी उसे सिद्ध पुरुष मानने लगते हैं।

अतएव यह धारणा गलत है कि बोध (ज्ञान) का आधार आत्मा है। आत्मा वाले प्रसंग में स्वयं आत्मा के सम्बन्ध में विवेचना कर दी गई है।

वैसे आत्मा और मन के सम्बन्ध में नैयायिक तथा वैशेषिक यह मानते है कि—आत्मा ज्ञान का अधिकरण है। वह दो प्रकार का है— परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा सर्वविधि ऐश्वर्य सम्पन्न (ईश्वर) सर्वज्ञ और एक ही है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न विभु (व्यापक) और नित्य है। मन वह इन्द्रिय है जिससे सुख आदि की उपलब्धि (बोध) होती है। वह प्रत्येक जीवात्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण भिन्न-भिन्न है, परमाणु रूप है और नित्य है।

(ज्ञानाधिकरण सुखाद्यु आत्मा) स द्विविधः। परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञःपरमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च। पुरवायुपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।)

यद्यपि पूरे वैशेषिक दर्शन में कहीं भी आत्मा के दो भेद बताकर परमात्मा की विवेचना नहीं की गई है, परन्तु फिर भी आगे चलकर नैयायिकों के प्रभाव से वैशेषिक शास्त्रों में आत्मा के पूर्वोक्त दो भेदों की अनिवार्यता मानी जाती रही है।

ज्ञान की वास्तविकता और प्रामाणिकता

भारतीय दर्शन शास्त्र में सन्देहवाद की एक शाखा रही है। इसके अनुसार किसी भी वस्तु या ज्ञान के सम्बन्ध में किसी निश्चित धारणा का दावा नहीं किया जा सकता। आगे चलकर एक शाखा वेदान्त के नाम से

इस प्रकार की चालू हो गई कि न केवल वस्तुओ का अस्तित्व मिथ्या कहा जाने लगा बल्कि उनका बोध भी 'भ्रम मात्र बनकर रह गया। विश्व अथवा बाह्य जगत् को इतनी उपेक्षा तथा घृणा के साथ देखा जाने लगा कि उनकी चर्चा करने वालो को दार्शनिक दुनिया मे हिकारत से देखा जाता था और जो केवल अर्थहीन शब्दाडम्बर रचते थे, एव दार्शनिक मुहावरे बाजी की लम्बतरानी हांकते थे, वे ही दार्शनिक माने जाते थे। इसमे वस्तुओ तथा ज्ञान की वास्तविकता एव प्रामाणिकता ही जब खण्डित हो जाती थी तो विवेचना करते रहने मे प्रयोजन ही कौन-सा शेष था ?

मार्क्सवाद इस प्रकार की दार्शनिक लम्बतरानी का न केवल विरोध करता है बल्कि उससे घृणा करता है और उसका विश्वास है कि वस्तुओं के अस्तित्व एव उनके ज्ञान की वास्तविकता और प्रामाणिकता से इन्कार करना तभी सम्भव है जब हम हर प्रकार की चर्चा से इन्कार कर दें। परन्तु हम देखते हैं कि ये लम्बतरानी हाकने वाले चौबीस घण्टे लम्बतरानी हाकते हैं और इसी के जिम्मे खाते भी है। फिर क्या यह मान लिया जाए कि ये अर्थहीन एव अनर्गल प्रलाप मात्र करते हैं ?

वस्तुओ की वास्तविकता के सम्बन्ध मे दूसरे स्थान पर चर्चा की गई है। अपनी ज्ञानेन्द्रियो तथा विज्ञान के द्वारा प्रयोग करके हम जिस ज्ञान को प्राप्त करते है वह उतना ही वास्तविक तथा सत्य है जितना उस वस्तु का स्वरूप जिसके सम्बन्ध में हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। विपरीत इसके, ससार को मिथ्या बताने वाले दार्शनिक वस्तु और उसके ज्ञान को मिथ्या बताते हैं तथा उसी ज्ञान को सत्य मानते हैं जो उस वस्तु और ज्ञान से सम्बन्धित नही है। इसका अभिप्राय हुआ कि सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य कहने वाला ज्ञान ही सत्य है। परन्तु ज्ञान कोरी कल्पना नहीं है और न ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य केवल मनोरजन ही है। किसी का मनमौजीपन और किसी को चाहे जिस रूप मे निश्चित कर देना भी सत्य नही है। यह हो सकता है कि कोई अपनी मनमोजी तरगो मे बहकर अग्निबाण को बैलगाडी और पुरुष को औरत कहने लगे। परन्तु यदि उसी के अनुसार

वह व्यवहार भी करता है तो उसकी कल्पना की दीवार व्यवहार के एक ही धक्के में भरभराकर गिर पड़ती है। वह यदि इस गिर पड़ने को भी कल्पना कहकर टाल देता है तो ऐसे निर्लज्ज को उपेक्षा के गर्त्त में जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य प्रकृति के नियमों का पता लगाना है। इन नियमों का ज्ञान यदि वास्तविक और प्रामाणिक न होता तो मानव की सृजन क्षमताओं का निरन्तर विकास न होता रहता। इस ज्ञान की प्रामाणिकता के कारण ही मनुष्यों में वह आत्मविश्वास पैदा होता है जिससे प्रेरित होकर वे अग्निबाणों में बैठकर और अन्तरिक्ष पार करके चन्द्रलोक की यात्रा का दु:साहस करते हैं। यदि ज्ञान अप्रामाणिक होता तो वह कौन-सी चीज है जो उन्हें इतना बड़ा दु:साहस करने की प्रेरणा देती। यदि धरती द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने के नियमों, चांद द्वारा धरती की परिक्रमा करने के नियमों और उनकी अत्यन्त सूक्ष्मता से निर्धारित नियत गति का प्रामाणिक ज्ञान न होता तो यह कैसे संभव था कि धरती से छोड़ा गया अग्निबाण ठीक समय पर चांद तक पहुँचता और उसके गुरुत्वाकर्षण की सुनिश्चित शक्ति से उचित मात्रा में संघर्ष कर पाता? दिशा, काल और गति के लघुतम एवं अंशमात्र व्यतिक्रम से भी यह सारा खेल खराब हो सकता था।

अपने दैनिक जीवन में भी मनुष्य वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके लाभ उठाते हैं। रोगों में औषधि लेते हैं। आहार में विभिन्न खाद्य पदार्थों का उपयोग करते हैं। सर्दी-ताप से बचने के लिए तदनुकूल वस्त्र धारण करते हैं। यदि ज्ञान वास्तविक एवं प्रामाणिक न होता तो निश्चिन्त होकर कोई व्यक्ति किसी औषधि का सेवन कैसे कर सकता है? खेतों को सूखने से बचाने के लिए रहट चलाने की बात कैसे सोच सकता है? अन्यथा यह भी तो होता कि गर्मियों में ऊनी कपड़े और असह्य सर्दियों में मलमल के कपड़े पहने जाते। परन्तु ये सब विडम्बना के काम आत्मवादी भी नहीं करते और वेदान्ती भाई तो बिल्कुल भी नहीं करते। व्यवहार में तो भौतिक-

वादी और अभौतिकवादी दोनो ही ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य व्यवहार की सुगमता एव प्रभावकारिता के रूप मे ही मानते हैं। परन्तु अभौतिकवादी केवल गाल बजाकर अपने दर्शन की सार्थकता दिखलाते है।

यह आश्चर्य की बात नही है कि समस्त गैर चार्वाकवादी भारतीय दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य लक्ष्य मुक्ति ही क्यो मानते है? वास्तव मे यही एकमात्र वह कारण है जिसने भारतीय दर्शनशास्त्र को कोरे वितण्डावाद मे फँसाकर रख दिया और उसे आधुनिक विज्ञान के विरोध में लाकर खड़ा कर दिया। इसी मुक्तिवाद ने भारतीय दार्शनिको की प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाकर कूप मण्डूकता की ओर धकेल दिया तथा किसी जमाने में ससार की उच्चतम सभ्यता की जन्मभूमि यह देश आज कठिनाई से अपने उचित स्थान के लिए सघर्ष कर रहा है।

अपने दैनिक जीवन म हम सभी यह अनुभव करते हैं कि किसी वस्तु एव परिस्थिति के गुण दोषो का ज्ञान प्राप्त करके समाज और व्यक्तियो के लिए लाभ प्राप्त करें और हानि का निवारण करें। जैसा कि कहा जा चुका है व्यवहार मे आदर्शवादी वेदान्ती और विज्ञानवादी मार्क्सवादी दोनो ही यह करते हैं। परन्तु प्रचार के लिए जब वे ज्ञान प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य 'मुक्ति' बताने लगते है तो वह ज्ञान इतना थोथा और धुधला बन कर रह जाता है कि उसकी प्रामाणिकता वास्तव मे नष्ट हो जाती है। ज्ञान की प्रामाणिकता व्यवहार की कसौटी पर परखी जाती है। परन्तु 'मुक्ति' केवल कल्पना है और वह कसौटी नही बन सकती।

यदि घडी भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि वस्तु एव उसका ज्ञान प्रामाणिक नही है तो प्रामाणिक है क्या? यदि यह प्रामाणिक एव विश्वसनीय नही है तो वेदान्ती जीव भूख लगने पर आहार ही क्यो लेते हैं और पत्थर क्यो नही चबाते? वे नींद आने पर निढाल होकर सोने की क्यो सोचते हैं। यदि यह कहा जाए कि यह सब तो शरीर की स्वाभाविक क्रियायें हैं, जो चलती रहती हैं, उनके सम्बन्ध मे माथा-पच्ची क्यो की जाए तो क्या अस्वाभाविक क्रियाओ के सम्बन्धमे माथा-पच्ची की जाए और

वही ज्ञान प्रामाणिक समझा जाए ? जो असत्य है ?

कहा जाता है कि व्यवहार में ही यह सब कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में भूख-प्यास और सर्दी तथा गर्मी कुछ भी नहीं है। यह सब तो भ्रममात्र है। परन्तु यह आश्चर्यजनक चमत्कार ही समझिये कि जो रात-दिन होता है और जिस पर आचरण किए बिना काम नहीं चलता वह मिथ्या है और जो दिमाग पर जोर डालने के बाद भी समझ में नहीं आता, वह सत्य है।

वस्तु पहले या उसका ज्ञान ?

योरोप और एशिया के दार्शनिकों में हजारों साल से यह विचार-संघर्ष चला आ रहा है कि वस्तु पहले है या उसका ज्ञान। कुछ दार्शनिक तो वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व तक नहीं मानते और मन पर पड़े अपने संस्कारों का प्रतिबिम्ब ही वस्तु के रूप में मानते है। इस प्रकार वे या तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं और यदि मानते भी है तो हमारे मन का, विचार का प्रतिबिम्ब मात्र मानते हैं। इस तरह, पूरे संसार को विज्ञानमय अर्थात ज्ञान का ही रूप बताते हैं। वे कहते हैं कि यदि ज्ञान न हो तो प्रतिबिम्ब ही किसका पड़े और यदि ज्ञानेन्द्रियाँ कुण्ठित हो जाती हैं तो वस्तु का अस्तित्व ही कैसे बोध में आ सकता है ? इन्हीं तर्कों के आधारपर योगाचार, वेदान्ती और योरोपके बर्कले आदि आधुनिक दार्शनिक वस्तु के अस्तित्व से पहले या तो ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं और या फिर कहते हैं कि वस्तु के रूप में ज्ञान की ही बाहरी झलक मिथ्या रूप में भासित होती है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आत्मवादी दार्शनिक वस्तु एवं वास्तविक-जगत के इतने खिलाफ हैं और ये लोग सबसे पहले यह प्रयास क्यों करते है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसी के अस्तित्व से इन्कार कराया जाए। वास्तव में जिस मन घड़न्त सिद्धान्त के जाल में वे फसे हुए हैं, उसे उचित ठहराने के लिए ठोस वास्तविकता

पर परदा डालना उनका सबसे पहला काम हो जाता है।

मावसवाद इस धारणा को उल्टा प्रयोग मानता है। ज्ञान का प्रतिबिम्ब वस्तु नही है, बल्कि ठोस वस्तु का इन्द्रिया द्वारा मानव मस्तिष्क पर पडा हुआ प्रतिबिम्ब ही ज्ञान है। इसीलिए वस्तु पहले है और ज्ञान बाद म है। यह ठीक है कि अन्धा व्यक्ति वस्तु का दर्शन नही करता और बहरा उसे नही सुनता। परन्तु इतने मात्र से वस्तु का अस्तित्व नष्ट नही हो जाता। यह वस्तु का नही बल्कि अन्धा और बहरो का दोष है जो वे वस्तु को नही देख पाते या सुनते। वस्तु तो अपनी जगह ज्या की त्यो बनी रहती है। जो लोग वस्तु से पहले ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं वे यह भूल जाते हैं कि लोग यह तो कहते है कि मैं गधे को जानता हूँ। परन्तु यह नही कहते कि गधा मेरा ज्ञान है। इसलिए कि मेरे ज्ञान म गधे के अलावा और भी बहुत सी चीजें हैं। ऐसा कहने का मतलब यही लगाया जाएगा कि लोग मुझे पागल समझें। "गधा मेरा ज्ञान है" कहने वालो को इसके अलावा और क्या समझा जा सकता है?

ज्ञान मूल है या वस्तु?

मावसवाद ज्ञान और वस्तु दोनो को ही सत्य एव प्रामाणिक मानता है। परन्तु अभौतिकवादी जैसा कि ऊपर बताया गया है वस्तु को असत्य मानते हैं और ज्ञान को मूल मानते है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सब कुछ ज्ञान ही है और जैसे सिनेमा पट पर चित्रित वस्तु का अभाव होते हुए भी उसके चित्र अकित होते रहते है उसी प्रकार ईश्वर के मानसिक चित्रपट पर वस्तुओ का अभाव होते हुए भी उनके चित्र अकित होते रहते हैं तथा भ्रममोह मे फसे प्राणी उन्हे वास्तविकता के रूप मे मानते रहते हैं। वास्तव म सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान है—प्रतीति ही है और ज्ञान का भी केवल एक ही रूप है जो मनुष्यो की चेतना क भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। और इस प्रकार, मूल तत्व ज्ञान के एक होते हुए भी लाखो करोड़ो वस्तुओ का भेद प्रतीत होता रहता है। जैसे सूय एक है—परन्तु लाल हरे, पीले और

काले शीशों में उसके विभिन्न रंग दिखाई देते हैं। गोल, तिरछे और आड़े शीशों में वह तिरछा, गोल और आड़ा दिखाई देता है। उसी की भाँति एक ज्ञानमय आत्मा पात्र के भेद से प्रत्येक जीव को और एक ही जीव को विभिन्न मनोदशाओं में अनेक रूप एवं अनेक नाम वाला दृष्टिगोचर होता है। मूल वस्तु ज्ञान ही है न कि वस्तु।

मार्क्सवाद इस मिथ्या-सिद्धान्त को उन्मत्तता का प्रलाप मानता है। यह तो अभी पता चला है कि ये आत्मवादी ईश्वर को सिनेमा का चित्रपट मानते है। अभी तक तो कर्त्ता-धर्त्ता, विधाता और विश्व का नियन्ता, पता नहीं क्या-क्या मानते थे। इन मूर्खों को पता नहीं यह विश्वास कैसे हो गया है कि केवल कुछ उदाहरण दे देने मात्र से—सिनेमा चित्रपट और सूर्य-दर्पण के संवाद मात्र से, वे विश्व की वास्तविकताओं पर पोचा-फेर सकते है? यह ठीक है कि सिनेमा चित्रपट पर सुरैया वास्तव में अभिनय नही कर रही है। परन्तु उसने कहीं तो, जैसे स्टूडियों में, अभिनय किया ही है और उसी की नकल यहा दिखाई जाती है। यदि कहीं भी वास्तविक अभिनय न हो और रील न घुमाई जा रही हो, तथा फिर भी कोई दर्शक वाह-वाही में नाच उठता हो तो सब लोग उसे बावला ही समझेंगे। इसी प्रकार, विभिन्न आकार के दर्पणों या जलाशयों में सूर्य के दर्शन विभिन्न आकारों तथा रूपों में होते हैं। परन्तु सूर्य की उपस्थिति में ही तो ऐसा होता है। रात के समय ये दर्पण और जलाशय ऐसा क्यों नहीं कर पाते? बिना तर्क के केवल उदाहरणों से किसी सिद्धान्त को सही ठहराने का प्रयास करना बौद्धिक दिवालियापन है। इसीलिए कि यदि सिनेमा-पट का अस्तित्व न हो, चित्रित किये गये व्यक्तियों का भी अस्तित्व न हो और उनकी फिल्म न ली गई हो तो सिनेमापट पर उनके चित्र अंकित नहीं हो सकते। अन्यथा यह क्या कारण है कि सिनेमा जिस फिल्म का प्रदर्शन करता है उसी के चित्र प्रदर्शन में आते हैं। किसी दूसरी फिल्म के नहीं। सुरैया या-लता मंगेशकर के चित्र एवं रिकार्डों में से पंकज मलिक तथा सहगल की तस्वीरें और तराने क्यों नहीं निकलते। जहाँ तक सूर्य के

विभिन्न आकारो का सम्बन्ध है वे भी वस्तुओ के मूल रूपो मे निश्चित नियमो के आधार पर दिखाई देते है और इन नियमो की जानकारी प्राप्त करके फिल्म कलाकार फोटोग्राफी की कला मे प्रवीणता प्राप्त करते हैं।

अतएव, मार्क्सवाद वस्तु को मूल मानता है और उसका ज्ञान भी उसी के रूप से निर्धारित होने के कारण गौण होता है। ज्ञान किसी वस्तु का ही होता है न कि वस्तु किसी ज्ञान की होती है।

मन, विचार और आत्मा

सभी भारतीय दार्शनिक मन, विचार और आत्मा के सम्बन्ध मे एक प्रकार के विचार नही रखते। महर्षि कपिल के अनुयायी जो साख्य शास्त्र को मानते हैं मन, विचार एव सुख दु ख तथा ज्ञान आदि को आत्मा का गुण नही मानते। वे चेतन को आत्मा भी नही कहते बल्कि पुरुष कहते हैं जो वास्तव मे निर्गुण है तथा कर्त्ता भी नही है। उनके मत से केवल प्रकृति ही कर्ता है तथा उसी मे हजारो लाखो प्रकार के विकार होते रहते हैं और विभिन्न सृष्टियो की नटशाला चलती रहती है जिसमे मुख्य और एकमात्र नटी प्रकृति ही है। पुरुष केवल भ्रम के वश अपने आपको कर्त्ता तथा गुणवान् मानता है। इस प्रकार साख्य शास्त्री द्वैतवादी है अर्थात् प्रकृति और पुरुष को—दोनो को मूल एव अनादि तथा अनन्त मानते है। मन और विचार जड प्रकृति के ही गुण हैं।

शकराचार्य के अनुयायी चेतनाद्वैतवादी हैं अर्थात् वे केवल ब्रह्म को ही मूल, अनादि एव अनन्त मानते हैं और प्रकृति एव बाह्य जगत् जो मन से बाहरप्रतिबिम्बित होता है, केवल माया है, असत्य है और अस्तित्व मे न होता हुआ भी केवल अज्ञानके कारण बोध मे आता है। जैसे रज्जु मे समानता के कारण साँप का भ्रम हो जाता है और आदमी आतकित हो जाता है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को विभु अर्थात् सर्व व्यापक मानते हैं जैसे नैयायिक और वैशेषिक। वे कहते हैं कि मरने के बाद आदमी का

शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में चला जाता है जब कि विभु होने के कारण आत्मा वहाँ पहले से ही विद्यमान रहता है। बोध या ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। परन्तु जब तक मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता तब तक आत्मा को अपने बोध का बोध नही होता। किन्तु अकेले मन के साथ सम्पर्क से भी उसे वस्तुओं का बोध नही होता। इसके लिए मन का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होना आवश्यक है। सोते समय इसीलिए मनुष्य को बोध नहीं हो पाता कि मन ऐसी नाड़ी में—सुषुम्ना में पहुँच जाता है जहां शरीर और इन्द्रियों तथा बाहरी संसार से उसका सम्पर्क टूट जाता है। आत्मा की भाँति मन भी नित्य हैं और जितनी आत्माएँ हैं उतने ही मन भी हैं। जो आत्मायें 'मुक्त' हो जाती हैं, उनके मन बेकार हो जाते हैं तथा 'शून्य' आकाश में डोलते रहते हैं। जब छिपकली की पूछ कट जाती है और छिपकली के साथ ही उसकी पूँछ भी तड़फती और चक्कर काटती है तो ऐसे बेकार मन पूंछ में आ जाते हैं तथा उसे क्षणिक जीवन दे देते हैं।

कुछ भारतीय दार्शनिक आत्मा को पुद्गल के रूप में मानते हैं, सर्वव्यापक और विभु तो नहीं परन्तु कहते हैं कि वह घटता-बढ़ता रहता है। तभी तो छोटी-सी चीटी के शरीर में बसी आत्मा जब हाथी के शरीर में प्रवेश करती है तो उतनी ही विशाल हो जाती है। यह करामाती आत्मा जैनो का है।

परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि दादियों और नानियों की ये कहानियां वैज्ञानिक दर्शन-शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं और यदि इन्हें आंख मीच कर सत्य मान लिया जाए तो समाज गतिरोध के गड्ढे में जा फँसता है।

प्राणि विज्ञान के अनुसार मन वास्तव में और कुछ नही है बल्कि शरीर रचना में प्रकृति की सबसे जटिल, सर्वोत्कृष्ट एवं चेतना की निर्धारक सृष्टि है जो इन्द्रियों के कम्पनों को केवल स्वीकार ही नही करती बल्कि एक इन्द्रिय-के कम्पन एवं संवेदना को दूसरे कम्पन तथा संवेदना के साथ जोड़ती है, उन्हें निर्देश देती है, ज्ञान प्राप्त करके कर्मेन्द्रियों को

प्रेरित करती है, अनुकूल का स्वागत एव अभिग्रहण करती है, प्रतिकूल का प्रतिरोध एव निरीकरण करती है और इस प्रकार भौतिक कम्पनों का निवामव, मन भी भौतिक सृष्टि की जटिलतम रचना ही है। वह नित्य नही है और बाहरी जगत् का उस पर सीधा प्रभाव पडता है। तभी तो बुद्धि या मन ठिकाने लाने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनाई जाती है, औषधियाँ खिलाई जाती है और मन्द बुद्धि को तेज बुद्धि करने के लिए विद्याभ्यास कराया जाता है।

परन्तु मन केवल कम्पन ग्रहण करने वाला, उन्हे दूसरे कम्पनो के साथ जोडने वाला एव कर्मेन्द्रियो को प्रेरित करने वाला साधनमात्र ही नही है। वह इन कम्पनो के प्रभावो का सग्रहालय (स्टोर) भी है और यहीं कारण है कि इन क्षणिक कम्पनो का मन पर स्थायी प्रभाव भी पडता है। जब ज्ञानो का प्रभाव अधिक स्थायी होने लगता है तथा इस स्टोर या सग्रहालय पर गहरी छाप डाल देता है तो यही ज्ञान बदलकर विचार बन जाता है। बहुत से सामयिक ज्ञानो का सामूहिक परिणाम ही विचार है और जब समाज के बहुसख्यक लोग एक ही तरीके से सोचने लगते हैं या एक ही नतीजे पर पहुचते हैं तो उस ज्ञान को सामाजिक विचार कहने लगते हैं। यह सामाजिक विचार ही आत्मा है और वह न तो नित्य है, न अनादि है, न विभु या सर्वव्यापक है और वह ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुसार अदलती-बदलती रहती है तथा सामाजिक परिस्थितियो का उस पर निर्णायक प्रभाव पडता है। इसीलिए, उसे पुद्गल रूप जरूर कह सकते हैं, परन्तु जैनियो की परिभाषा मे नही—इसलिए कि वह अनन्त जन्मो तक यात्रा नही करता है। जो ज्ञान पीढी—दर पीढी मन पर अंकित होता रहता है, वह पूरे सामाजिक जीवन का अग बनकर अगली पीढियो को बिरासत के रूप मे मिलता रहता है जो धीरे-धीरे सस्कृति और सभ्यताओ का रूप धारण करता है।

इसी, प्रकार, हजारो वर्षों तक जो काम पूरे समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं, वे पुण्य के और जिनसे हानि होती है वे पाप के रूप में बदल

जाते है। सामाजिक धारणायें, धर्म तथा दर्शन केवल इसी प्रकार स्थापित एवं विजयी होते है।

यदि मन विचार और आत्मा सभी कुछ भौतिक हैं तथा उनका भी जन्म विकास, ह्रास और मृत्यु होती है तो लोग पूर्व जन्म की बात कैसे याद कर लेते है और बता देते है। इस प्रश्न का जवाब देने का साहस कौन करे—वही जो जादू-टोनों में विश्वास करता हो। मनुष्य तो पूरी धरती पर रहते हैं। परन्तु पूर्व जन्म की बात केवल भारतीयों को ही याद आती है और वह भी हिन्दुओं को। अफ्रीका, अमरीका और योरप में किसी को याद नहीं आती। इसके अलावा, जिन्हें आती है वे, केवल पास-पड़ोस के लोगों को ही--जो उनके साथ पूर्व जन्म में रहे थे, याद करते है, किसी ने आज तक पैदा होकर अफ्रीका, अमरीका और योरप के किस्से नहीं सुनाये जहाँ वे किसी पूर्व जन्म में रहकर यहाँ पैदा हो गए हों।

इसके अलावा, किसी ने भी चांद, सूरज, मंगल और किसी दूसरे ग्रह पर अपने जन्म की बात नहीं सुनाई। ये सारी कम्बख्त आत्मायें समस्त ब्रह्माण्डों का परित्याग करके इस गरीब सी धरती पर ही कैसे टूट पड़ी? थोड़ी-बहुत भी तो दूसरे लोगों और लोकों में जाकर बस जातीं?

ये सभी कल्पनायें अज्ञान मूलक हैं जिनका विज्ञान तथा ज्ञान से कुछ भी सरोकार नहीं है।

छिपकली की कटी हुई पूंछ बेकार मन का सम्पर्क हो जाने से उछल-कूद नहीं मचाती बल्कि शरीर की नाड़ियों में हुए नैसर्गिक कम्पन की टूटती हुई धारा है। जैसे नहर का कुलाबा ऊपर से बन्द कर देने के बाद भी कुछ देर तक पानी बहाता रहता है, उसी भांति कटी हुई पूंछ शरीर कम्पन की स्वाभाविक गति से थोड़ी देर तक हरकत करती है और अन्त में शान्त हो जाती है।

शरीर विज्ञान में कोरे होने के कारण ये दार्शनिक नींद तक की परिभाषा नहीं कर पाते। ये स्वर्ग, नरक, मुक्ति और ब्रह्म का रहस्य जानने

के लिए तो बहुत प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु इतनी-सी और मोटी सी बात नहीं समझ पाये कि जैसे लगातार काम करने से कोई भौतिक मशीन और उसका यन्त्र गरम होकर बेकार हो जाता है तथा थोडी देर उसका रुकना जरूरी है, इसी प्रकार, शरीर, मन और आत्मा भी भौतिक होने के कारण गरम हो जाते हैं और नींद इसके अलावा और कुछ नहीं है बल्कि थकावट दूर करने के लिए भौतिक शरीर का विश्राम पाना है। इस मोटी सी बात को न समझकर सुषुम्ना नाडी में मन छिपाया जाता है। यदि यही ठीक होता तो हांक मारते ही आदमी कैसे उठ खडा होता है ?

गुण और गुणी का पारस्परिक सम्बन्ध

किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते समय सबसे पहले उसके गुणों का प्रतिबिम्ब (छाप) हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है। उस वस्तु का आकार, रंग, रूप, कोमलता, कठिनता, सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि को हमारी ज्ञानेन्द्रियों सबसे पहले ग्रहण करती है। इन गुणों का सीधा सम्बन्ध वस्तु के साथ होता है और उनसे वस्तु का बोध होता है। यदि गुणों का बोध नहीं हो पाता तो वस्तु का बोध भी नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने गुणों के कारण जानी जाती है और वस्तु के विशिष्ट गुण उसे छोड़कर नहीं रहते। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि ये गुण अलग-अलग भी किसी अन्य वस्तु में नहीं रहते। इसलिए कि जैसी सुगन्ध या दुर्गन्ध किसी एक वस्तु में होती है, वैसी ही वह दूसरी वस्तु में भी हो सकती है। परन्तु ये गुण इकट्ठे और एक ही मात्रा में किसी अन्य वस्तु में नहीं होते और यह विशेषता ही एक वस्तु को दूसरी से पृथक् करती है।

क्या गुण सनातन आर नित्य हैं तथा उनमें परिवर्तन नहीं होता? किसने कहा है कि नहीं होता? केवल नैयायिक, वैशेपिक और आत्मवादी दार्शनिकों का यह आग्रह है कि वस्तु के गुण नहीं बदलते। मार्क्सवाद तथा विज्ञान ऐसा नहीं मानता है। सरसों का तेल पीला या काला होता है। उसे सफेद किया जा सकता है। परन्तु गुणों के बदल जाने से वह वस्तु वही नहीं रहती, वह भी बदल जाती है, दूसरी हो जाती है और इस प्रकार, गुणों में परिवर्तन वस्तु में परिवर्तन लाता है तथा नई वस्तु को जन्म देता है। इसीलिए, मार्क्सवाद का यह सर्वविदित सिद्धान्त है कि गुण

बदल जाने से वस्तु बदल जाती है। गुणात्मक परिवर्त्तन का मतलब यह है एक वस्तु नष्ट होकर दूसरी वस्तु का जन्म होता है। इसीलिए, गुणी और गुण के आपसी सम्बन्ध वस्तु के अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से रहते हैं।

कुछ दार्शनिक वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व नही मानते। उनका कहना है कि ससार मे केवल गुण ही गुण हैं। विभिन्न गुणो के विशिष्ट योग को ही गलती से वस्तु की सज्ञा दे दी जाती है।

"न गुण व्यतिरिक्तस्तु गुणी नामास्ति कञ्चन" न्याय मजरी।

यह धारणा अवैज्ञानिक है और वस्तु से दूसरी वस्तु का उत्पादन इसका प्रमाण है कि वस्तु केवल गुण ही गुण नही है बल्कि वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व है। फिर गुणो का स्वतन्त्र अस्तित्व सभव नही है, वे किसी गुणी मे ही स्थित रह सकते हैं।

कोई वस्तु क्या चीज है और अन्य अगणित वस्तुओ से उसे कौन भिन्न करता है, वह उसका कोई विशिष्ट गुण ही है। सभी वस्तुओ और व्यापारो मे गुण रहता है। गुण से ही हम उसे सीमाकित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए—सजीव और निर्जीव पदार्थ मे क्या भेद है ? आस-पास के वातावरण मे उपचय तथा अपचय सम्बन्ध कायम करने की क्षमता और वाह्य पदार्थों के प्रति अनुकूल एव प्रतिकूल प्रतिक्रियायें प्रकट करना एव आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति सजीव पदार्थों को निर्जीवो से पृथक् करती है।

समाज व्यवस्थाओ को भी उनके विशेष गुण एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। सामन्तवाद से पूजीवाद माल उत्पादन मे प्रधानता के कारण भिन्न होता है और सामूहिक पैदावार को सामूहिक मिल्कियत के साथ जोड देने से समाजवाद पूजीवाद मे भिन्न हो जाता है।

किसी वस्तु का गुण उन चीजो द्वारा अभिव्यक्त होता है जिन्हे हम गुणधर्म कहते हैं। गुणधर्म किसी वस्तु का केवल एक पहलू से रूप निर्धारण करता है। परन्तु गुण उसके समग्र रूप का परिचायक है। सोने का पीला रग लोच एव अन्य विशेषतायें, अलग-अलग उसके गुणधर्म हैं। परन्तु इन

सारे गुणधर्मों को जब एक साथ मिलाकर देखा जाता है तो वह सोने का गुण बन जाता है।

निश्चित गुण के अलावा हर वस्तु में परिमाण भी होता है। गुणों के विपरीत, परिमाण किसी वस्तु के विकास के अंश अथवा उसके आभ्यन्तरिक गुणधर्म की प्रगाढ़ता, उसके आकार एवं आयतन आदि को प्रतिबिम्बित करता है। परिमाण आम तौर पर किसी संख्या द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। आकार, भार, वस्तुओं का आयतन, उनके आभ्यन्तरिक वर्णों की प्रगाढ़ता और उनके द्वारा ध्वनियों की प्रगाढ़ता आदि संख्याओं में अभिव्यक्त किये जाते है।

सामाजिक व्यापारों में भी परिमाणात्मक विशेषतायें होती हैं। हर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन के विकास का एक तदनुरूप स्तर अथवा परिमाण हुआ करता है। हर देश की अपनी एक निश्चित उत्पादन क्षमता, श्रम, कच्चा माल और शक्ति स्रोत होते हैं।

गुण और परिमाण में एकता रहती है और वे एक ही वस्तु के दो रूपों, पक्षों का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु उनमें एक महत्वपूर्ण भेद भी होता है। गुण में परिवर्तन होने से वस्तु में परिवर्तन हो जाता है। परन्तु एक खास सीमा तक परिमाण में परिवर्तन होने से उस वस्तु का रूप विघटित नहीं होता और वह ज्यों की त्यों बनी रहती है। उदाहरण के लिए पतीली में रखे पानी में यदि हम गरमी पहुंचायें तो १०० डिग्री सेण्टीग्रेट तक की गरमी को पानी सहन कर लेता है और वह पानी ही बना रहता है। हां, इससे अधिक गरमी देना उस सीमा का अतिक्रमण करना है जिसे पानी सहन नहीं कर सकता और वह पानी से भाप बन जाता है, एक वस्तु से दूसरी वस्तु का निर्माण हो जाता है।

जो बात भौतिक पदार्थों पर लागू होती है वही समाज व्यवस्थाओं पर भी लागू होती है। उदाहरण के लिए—पूंजीवादी व्यवस्था में हम जनता को शोषण तथा दमन के खिलाफ संगठित एवं आन्दोलित करते हैं। ये आन्दोलन कभी सफल होते हैं, कभी कुचल दिये जाते हैं और कभी

इसमे आशिक सफलता मिल जाती है। इन सफलताओं से जनता को क्षणिक सान्त्वना तो मिल जाती है, परन्तु उसे न्याय नही मिलता। जनता का आन्दोलन निरन्तर तेज एव विशाल होता जाता है। अन्त मे ऐसी सीमा रेखा आती है कि उस आन्दोलन एव जन आकाक्षाओ को समाज का पुराना चौखटा अपने परिवेश मे नही समा पाता। पुराना चौखटा विघटित हो जाता है। पूजीवाद को जनता उखाड फेंकती है और एक नया सामाजिक चौखटा बनकर तैयार हो जाता है जिसे समाजवाद कहते हैं। ऐसा इसीलिए है कि जनता जिन मागो की पूर्ति के लिए आदोलन करती है, यदि वे पूरी की जाती हैं तो पूंजीवाद के लिए मुनाफे बटोरना कठिन हो जाता है। यदि ये मागे पूरी नही की जाती तो जनता का सन्तुष्ट होना असभव हो जाता है। जब वे दोनो साथ-साथ नही चल पाते तो पूंजीवादी ढाचा टूट जाता है। ऐसा सामाजिक ढाचा उभर जाता है जो जनता की आकाक्षायें पूरी कर सकता है।

जो क्रान्तिकारी जनता के क्रातिकारी आन्दोलन मे भाग लेते है वे यह जानते है कि उनका प्रत्येक आन्दोलन न तो पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड कर फेंक सकता है और न उससे सरकार पलट जाती है। इसके अलावा, अक्सर ये आन्दोलन कुचल भी दिये जाते हैं। परन्तु प्रत्येक छोटा-बडा आन्दोलन समाज पर अपना प्रभाव छोडता है। व्यवस्था के प्रति जनता मे असन्तोष फैलाता है और जन-असन्तोष मूर्त रूप पकडता जाता है। ये छोटे-छोटे असन्तोष बढकर अन्त मे सामाजिक असन्तोष तथा विद्रोह का रूप धारण करते है। जब पूरा समाज विद्रोह करता है तो पुरानी अर्थव्यवस्था भर-भरा कर गिर जाती है।

द्रव्यो की प्राचीन और नवीन धारणा

भारतीय दार्शनिको मे वैशेषिक शास्त्रकार, कणाद ऋषि का जो स्थान है वह किसी अन्य दार्शनिक को नही मिलता। किवदन्तियो के अनुसार कणाद ऋषि केवल खेतो मे बिखरे दाने चुग कर निर्वाह करते

थे। दूसरे लोगों का विचार है कि यह नाम व्यंजना मूलक है। वे कण अर्थात परमाणुओं के सबसे पहले आविष्कारक हैं और इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों में उन्होंने ही ठोस भौतिक अध्ययन की नीव रखी थी और प्रत्येक पदार्थ को उसकी सूक्ष्मता में देखकर परमाणुओं की खोज की थी। इसीलिए उनके विरोधी परिहास में उन्हें कणाद अर्थात परमाणु भोजी कहते थे। कणाद मुनि संभवतः दो-ढाई हजार वर्ष पहले हुए होंगे। हम समय की बहस में न पड़ कर केवल इतना कहना उचित समझते है कि महर्षि कणाद दुनिया के सबसे पहले परमाणुवादी हैं और विश्व की सृष्टि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से सोचने वाले वे सर्वप्रथम दार्शनिक हैं। वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि किसी अज्ञात कर्ता ने अपनी मनमौजी तरंगों में बह कर दुनिया बना दी और जब इच्छा हुई उसका संहार कर दिया।

फिर भी एक भूल कणाद कर ही गए और ऐसा होना सर्वथा अनिवार्य भी था कि वे परमाणुओं के अन्दर का रहस्य नहीं जान सके। परमाणुओं तक पहुँचना कोई छोटा काम भी नहीं था। वे परमाणु के गर्भ के अन्दर तक झांक नहीं सके। यही कारण है कि कणाद ने परमाणुओं की एक अवस्था ऐसी मान ली जब वे पूर्णतया निष्क्रिय हो जाते हैं तथा सृष्टि का अन्त हो जाता है। दुबारा सृष्टि के प्रारम्भ के लिए परमाणुओं का सक्रिय होना अनिवार्य था। इसके लिए अनावश्यक ही कणाद को ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी जिसकी चिकीर्षा (सृष्टि की इच्छा) से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। यदि कणाद यह जानते कि परमाणु के गर्भ में दो अन्तर्विरोधी तत्व निरन्तर एक-दूसरे का विरोध करते हैं तथा उतनी ही घनिष्ठता से एक-दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं, उन निरन्तर व सनातन विरोधियों का अनवरत सहयोग एवं संघर्ष कभी परमाणु को निष्क्रिय नहीं रहने देता तो फिर परमाणुओं की सक्रियता के लिए उन्हें किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। प्रतीत यह होता है कि ऋषि कणाद को ईश्वर की आवश्यकता केवल सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं में क्रिया पैदा करने के लिए होती है तथा इसके बाद विश्व के नियमन

एव सचालन के लिए नही होती। यह काम परमाणुओं तथा प्रकृति के स्वाभाविक नियम ही करते रहते है। इन अर्थों मे भी कणाद का ईश्वर दूसरे प्रकार के ईश्वरो से सर्वथा भिन्न है जो प्राणियो के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने तथा सोचने तक मे हर समय हस्तक्षेप करता रहता है।

ऋषि कणाद के दार्शनिक योगदान के सम्बन्ध मे यहा विस्तार के साथ विवेचना करना सम्भव नही है। परन्तु समस्त भारतीय दार्शनिक इस महान् दार्शनिक के आभारी रहगे जिसने विश्व मे सर्वप्रथम परमाणुओ की खोज की थी।

वैशेषिक दर्शनकार कणाद के मतानुसार द्रव्यो की गणना और परिभाषा निम्नलिखित है

द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य विशेष-समवाय तथा अभाव ये सात पदार्थ हैं।

पृथ्वी जल तेज वायु आकाश-काल-दिशा-आत्म और मन नौ द्रव्य हैं।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सख्या-परिमाण पृथक्त्व-सयोग विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह शब्द बुद्धि-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष प्रयत्न-धर्म-अधर्म और सस्कार ये २४ गुण हैं।

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) अपक्षेपण (नीचे फेंकना) आकुंचन (सिकोड़ना) प्रसारण (फैलाना) और गमन (गतिशीलता) ये पांच प्रकार के कर्म है।

पर और ऊपर दो प्रकार के सामान्य हैं।

पृथ्वी आदि नित्य द्रव्यो मे रहने वाले विशेष अनन्त हैं।

समवाय एक ही है।

प्रागभाव (वस्तु के जन्म से पहले का अभाव) प्रध्वसाभाव (वस्तु के नष्ट होने के बाद का अभाव) अत्यन्ताभाव (किसी रूप मे भी जिसका अस्तित्व न रह गया हो) और अन्योन्यभाव (एक-दूसरे पर आश्रित अभाव) ये पाँच प्रकार के अभाव है।

इस प्रकार कणाद ने पदार्थों तथा द्रव्यो एव गुणो आदि की विवेचना बहुत भौतिक ढग से की है और इसमे भी विशेष को सामान्य से पृथक करना एव अभाव को भी पदार्थों की श्रेणी मे गिनना कणाद की बहुत बडी

मौलिकता है।

इसके अलावा, जिस समय कणाद ने द्रव्यों की यह कल्पना की थी उस समय इससे अधिक संख्या में द्रव्यों के सम्बन्ध में सोचा भी नहीं जा सकता था। इसके बाद यूरोप एवं अन्य भूभागों में पदार्थ विज्ञान, द्रव्यों, गुणों एवं रसायन शास्त्र में बड़े-बड़े शोधकार्य किये गए है और पदार्थ विज्ञान में असाधारण प्रगति हो चुकी है।

आधुनिक धारणाओं के अनुसार पृथ्वी एवं जल आदि को मूलतत्व नहीं माना जा सकता और न यही सही है कि पृथ्वी जल तेज आदि पाँच महाभूतों से इस विश्व की रचना हुई है। जल स्वयं भी कोई मूल तत्व नहीं है।

इसके अलावा, जो मूल तत्व हैं, जैसे हाइड्रोजन और आक्सीजन के परमाणु आदि वे भी अपरिवर्तनीय नहीं हैं। उन्हें एक-दूसरे के रूप में बदला जा सकता है। जहाँ तक मूल तत्वों या द्रव्यों के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं का सम्बन्ध है वे इस प्रकार की रही हैं जैसे कि मूल तत्व किसी ठोस या सघन पिण्ड के रूप में रहते हैं फिर भले ही ये पिण्ड चाहे जितने लघु आकार में क्यों न हों। परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है। हम अपनी ही आँखों के सामने द्रव्यों को ठोस, द्रव एवं वाष्पीय (गैस) रूपों में परिवर्तित होते देखते हैं और इन रूपों से हम द्रव्यों की विशेष अवस्थाओं का बोध प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार पृथ्वी स्वयं कोई मूल तत्व नहीं है बल्कि अनेक तत्वों के अनन्त सम्मिश्रणों की विभिन्न प्रक्रियाओं का सम्मिलित रूप है। पृथ्वी नाम के स्वतन्त्र परमाणुओं का कहीं अस्तित्व नहीं है। यही स्थिति तेज वायु और आकाश की है। जल तेज वायु आदि की रचनाएँ ऊर्जा से होती हैं, ऊर्जा शक्ति से उत्पन्न होती है तथा हमारे सौर मंडल में यह सब सूर्य की शक्ति एवं परिवेश पर निर्भर करता है। जहाँ तक इनके गुणों का सम्बन्ध है जैसे गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द आदि वे भी अणुओं के विशेष मात्रा में संयोग से उत्पन्न होते हैं और वैसे ही अनुभव होते हैं। विशेष मात्रा में हुए इस संयोग तथा वियोग की खोज करना और वास्तविक आधार की

खोज करना अपने आपको सत्य से दूर रखना है।

इसके अलावा द्रव्या की मौलिकता के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों का यह मत भी सही नही था कि वे बदलते नही हैं तथा स्वभाव से गतिशील नही हैं।

मार्क्सवाद और आधुनिक विज्ञान द्रव्यो को प्रवाह के रूप मे निरन्तर परिवर्तन की दशा मे सनातन काल से गतिशील और कभी ठोस, कभी द्रव एव कभी वाष्प रूप मे विद्यमान अवस्था मे देखता है।

यह सोचना कि प्रत्येक द्रव्य के कुछ मूल परमाणु होते है जो कभी नही बदलते, केवल अपने ही समान अपरिवर्तनशील दूसरे मूल परमाणुओ मे सयोग या वियोगभर हैं और यह सोचना कि इन पर दूसरे द्रव्यो तथा परिस्थितियो का प्रभाव नही पडता, बहुत आरम्भिक अवस्था का भौतिक विज्ञान है जिसके खण्डन के लिए मूल द्रव्य चिल्ला-चिल्ला कर दौड-धूप कर रहे हैं।

कार्य और कारण का सम्बन्ध

इस बात से अभौतिकवादी भी मना नही करते कि कार्य तथा कारण का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और बिना कारण के कार्य नही होता। परन्तु फिर भी मार्क्सवाद और उनके दृष्टिकोणो मे भारी अन्तर है। अभौतिकवादी प्रत्येक कार्य का एक मुख्य कारण मानते है और उनकी यह धारणा है कि उसके आजाने से सभी गौण कारण अपना काम करने लगते हैं और कार्य पूरा हो जाना चाहिए। परन्तु यह सही नही है। इसकी समावना सदा ही बनी रहती है कि मुख्य कारण एव उसके साथ गौण कार्यों के इकठ्ठा हो जाने पर भी कार्य पूरा न हो। गोली चलाने का मुख्य कारण बन्दूक का घोडा दबाना है। आकाश से विमान के नीचे उतरने का मुख्य कारण उसका इजन है। परन्तु यह सभव हो सकता है कि कारतूस पुराना हो, नली फटी हुई हो अथवा ऐसा ही कोई अन्य कारण हो जिसे कारणो की श्रेणी मे नही गिना जाता और घोडे के दबाने पर

न चल सके। इसी प्रकार इंजन के ठीक काम करते रहने पर भी नीचे घना जंगल हो सकता है, सम्भव है दलदल हो अथवा तेज आंधी चल रही हो और विमान नीचे न उतर सकता हो।

इन सब बातों से प्रकट है कि किसी कार्य को पूरा करने के लिए केवल मुख्य तथा गौण कारणों का इकठ्ठा हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि पूरी परिस्थिति का अनुकूल होना आवश्यक है। यही कारण है कि मार्क्सवादी किसी एक कारण या कार्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के स्थान पर कार्य और कारण के समूह के रूप में अथवा उनसे सम्बन्धित परिस्थितियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना अधिक आवश्यक मानते हैं।

इसीलिए मार्क्सवादी कारणों और कार्य की पृथक-पृथक विवेचना करने के स्थान पर उन नियमों तथा परिस्थितियों का अध्ययन करता है जिनमें वह विशेष कार्य तथा उसी प्रकार के अन्य कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। इस ज्ञान से मनुष्य उन परिस्थितियों के बनाने तथा बदलने का भी प्रयास कर सकता है और यही सामान्य ज्ञान पूरे समाज तथा सृष्टि के निर्माण में तथा संचालन में हस्तक्षेप करने का अवसर मनुष्यों को देता है। यह तो हो सकता है कि किसी विशेष कार्य का मुख्य एवं गौण कारण जान लेने पर हम उस कार्य के सम्पादन में सफल हो जाएँ। परन्तु भिन्न-भिन्न कार्यों और कारणो के सम्बन्धों का सीमित ज्ञान मनुष्यों को प्रकृति के विशाल क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का असीमित अधिकार नहीं देता।

एक दूसरे पर निर्भरता

प्रकृति और समाज में प्रति क्षण ऐसी क्रियायें होती रहती हैं जिन पर दूसरी क्रियायें निर्भर करती हैं तथा एक से उत्पन्न होकर ये क्रियायें दूसरी का कारण बनती हैं। विश्व का समस्त घटनाचक्र इसी व्यापार शृंखला पर चढ़ा हुआ है तथा अनन्त काल तक चढ़ा रहेगा। उदाहरण के लिए अत्यधिक गर्मी पड़ने से अधिक वर्षा होती है और उससे गर्मी शांत

होती है। पतीली के नीचे अधिक आग के जलने से दूध उफनता है और दूध के उफनने से वह नीचे आकर अंगीठी की आग बुझा देता है। कार्य और कारण का यह ऐसा सम्बन्ध हुआ जिसकी शृंखला प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करती है।

कुछ क्रियायें एक दूसरी को प्रभावित किये बिना निरन्तर आगे की ओर बढती है। उदाहरण के लिए गरमी से सूखा पडा, उससे फसलें नष्ट हुई, उससे किसान की आय का स्रोत सूखा, उससे वह खेत मे सिचाई के साधन नही ला सका और इससे सूखे का प्रकोप पहले की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद साबित होता गया है। यहा एक काय दूसरे का कारण बनता गया।

जो व्यापार या क्रिया अथवा क्रियाशील व्यापारो का समूह ऐसे व्यापारा या उसके समूह से पहले आता है और उसे पैदा करता है, वह उसका कारण है। कारण की क्रिया से जो व्यापार प्रकट होता है, उसे कार्य कहते है।

कारण सदा ही कार्य से पहले आता है। परन्तु पहले आने मात्र से वह कारण नही माना जा सकता। रात के बाद ही दिन आता है। परन्तु रात दिन का कारण नही है। रात और दिन का कारण सूर्य के चारा ओर परिक्रमा करते हुए धरती का अपनी धुरी पर घूमना है। इसलिए, दो व्यापारो की कारण सम्बन्धी निर्भरता तब होती है जब उनमे से एक न केवल दूसरे से पहले आता है बल्कि प्रत्यक्ष रूप म उस दूसरे का जनक भी होता है।

कारण और तात्कालिक हेतु को एक नही समझना चाहिए। तात्कालिक हेतु वह घटना होती है जो कार्य से ठीक पहले आती है, वह स्वय कारण नहीं होती, परन्तु कारण को गतिमान करती है उसम तेजी लाती है। जैसे प्रथम युद्ध से पहले आस्ट्रिया के शहजादे की हत्या कर दी गई और युद्ध शुरू हो गया है। हत्या युद्ध का कारण नही थी। कारण तो साम्राज्यवादी होड थी। परन्तु इस हत्या ने वे कारण उत्तेजित कर दिये।

यत्र धूमस्तत्र वह्निः

जहाँ धुआं वहाँ आग के सिद्धान्त के अनुसार कार्य और कारण का सम्बन्ध वस्तुगत है, मनुष्य की बुद्धि अथवा कोई ईश्वरीय शक्ति उसका यथार्थ में समावेश नहीं करती। मनुष्य का इस क्षेत्र में केवल इतना ही योगदान हो सकता है कि वह कार्य-कारण सम्बन्धों तथा कार्य के सृजन के लिए अनिवार्य परिस्थितियों की सही खोज कर सके।

यह सिद्धान्त वास्तव में उस अभौतिकवादी सिद्धान्त का निराकरण करता है जिसमें कहा जाता है कि परमात्मा ने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस विश्व की रचना की है और उसमें ऐसे नियम डाल दिए हैं जो सही ढग से काम करते हैं। ये नियम किसी के डाले हुए नहीं हैं बल्कि प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के साथ उसकी अनिवार्य परिस्थितियों के साथ रहती है। ये परिस्थितियां ही नियम हैं। यह हेतुवादी धार्मिक धारणा कि किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर ने दुनिया बनाई है, इस-लिए गलत है कि खोज करने पर इन सभी नियमों का पता चल जाता है और ये वस्तु में उसके अस्तित्व के साथ पाये जाते हैं। ऐंगेल्स ने हेतुवादियों की चुटकी लेते हुए कहा है कि "हेतुवाद की दृष्टि में बिल्लियां चूहों को खाने के लिए पैदा हुई हैं और चूहे बिल्लियों द्वारा खाने के लिए पैदा हुए हैं।" वर्ग संघर्ष में इसका अर्थ हुआ कि 'भगवान् ने अमीरों को इसलिए पैदा किया है कि वे गरीबों का शोषण करें और गरीबों को इसलिए पैदा किया है कि वे अपना खून चुसवायें। दुनिया इसलिए बनी है कि परमात्मा के वैभव और शान का पता चले तथा यह संहार इसलिए करता है, लोगों को दुःख इसलिए देता है कि बन्दे उसे भूल न जाएँ और उसे याद रखें!

वाह रे, कसाई के बच्चे और वाहरे परमात्मा!!

कार्य-कारण सम्बन्धों के ज्ञान का व्यवहार में उपयोग

व्यापारों की कार्य-कारण निर्भरता का ज्ञान केवल शास्त्रार्थ करने के

लिए ही आवश्यक नहीं होता। उस ज्ञान का उपयोग हम अपने दैनिक व्यवहार में करते हैं और वैज्ञानिक अनुसंधान उसके बिना सभव नहीं है। उपयोगी व्यापारो के कारणो का पता लगाकर हम उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाते हैं, कारण इकट्ठे करते हैं और विपरीत कारणों को—जो बाधा के रूप में सामने आते हैं, हटाने का प्रयत्न करते हैं। यह काम केवल बड़े विद्वान् ही नहीं करते हैं बल्कि साधारण जन भी करते हैं। किसान यह जानते हैं कि अच्छी जुताई, बुवाई और समय पर पानी देने से फसल अच्छी होती है। वैज्ञानिक खाद और नवीन बीज से उसे प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए, किसान ऐसे सभी कारण जुटाता है। वह यह भी जानता है कि बीमारियां फसल नष्ट करती है और चूहे, जंगली जानवर तथा पक्षी उसे क्षति पहुँचाते हैं। इसके लिए किसान विषैली दवाओं का उपयोग करते हैं, तथा पशु-पक्षियो के आक्रमण से निगरानी रखते हैं। यही कारण है कि कृषि उत्पादन मे विकास के कारणो का जैसे-जैसे पता चलता जाता है, उसके लिए साधन जुटाये जा रहे हैं तथा कृषि अनुसंधान केन्द्रो का विस्तार होता जा रहा है।

मुख्य कारण वह माना जाता है जिसके बिना कार्य कभी सपन्न नही होता और उसी से उस कार्य की मुख्य विशेषताएँ निश्चित होती हैं। मिसाल के तौर पर, दूसरे महायुद्ध मे नाजीवाद पर सोवियत संघ की विजय का मुख्य कारण उसकी सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था और औद्योगिक विकास था न कि भूखण्ड का विस्तृत होना और अत्यधिक सर्दी का पड़ना। परन्तु पूंजीवादी प्रचारक सर्दी और भूखण्ड की विशालता पर ही जोर देते हैं जो कि गौण कारण हो सकते हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी बहुत से कारणो मे से मुख्य कारण ढूंढने का प्रयत्न करती है और परिस्थितियो की उलझन में से मुख्य कड़ी पकड़ती है जो कि घटना-क्रम का ब्योरेवार अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। इस पर जोर देते हुए लेनिन कहा करते थे "कि मार्क्सीज़्म का सार इन कलापों की मुख्य कड़ी को दृढ़ता के साथ पकड़ने और इस तरह [illegible] लना निश्चित करने में है।"

अनिवार्यता और आकस्मिकता

इस प्रसंग में स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि किन्हीं खास अवस्थाओं-परिस्थितियों में क्या सभी घटनाओं का होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है या कि वे घटनाएं आकस्मिक ढंग से होती हैं अर्थात् हो भी सकती हैं और नहीं भी ?

सभी जानते हैं कि यदि सन्तुलित मात्रा में नमी और ताप हों तो बीज अंकुरित हो जाते हैं। परन्तु पाला पड़ जाने पर किशोर पौधा नष्ट हो सकता है। तो क्या दोनों चीजें (पौधे का अंकुरित एवं नष्ट हो जाना) अनिवार्य है ?

दोनों चीजें अनिवार्य नहीं हैं। ताप और नमी में बीज अवश्य अंकुरित होता है। यह अनिवार्य है। परन्तु पाला पड़ना अनिवार्य नहीं है। वह पड़ भी सकता है और नहीं भी। इसी प्रकार, पाले से पौधा नष्ट भी हो सकता है और नहीं भी। यह अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पाला बीज या अंकुर के मध्य का स्वाभाविक या अनिवार्य विकार नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आकस्मिकता अकारण होती है। कारण उसका भी होता है। हां, उसका कारण स्वयं वस्तु नहीं होती बल्कि उसके बाहर होता है, बाह्य अवस्थाओं में होता है।

अनिवार्यता और आकस्मिकता का अन्तर्विरोध

अनिवार्यता और आकस्मिकता एक-दूसरी की विरोधी हैं तथा एक-दूसरे के साथ रहती हैं। उनका यह सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। कोई घटना एक ही साथ अनिवार्य एवं आकस्मिक हो सकती है—एक मामले में अनिवार्य और दूसरे में आकस्मिक। वही पाला या ओले जो अंकुरित बीज के विनाश के लिए आकस्मिक कारण थे, उस क्षेत्र की वायुमण्डलीय अवस्थाओं में परिवर्तन लाने में अनिवार्य कारण हैं। कुछ गैर-भौतिकवादी अनिवार्यता को तो मानते हैं, परन्तु आकस्मिक कारणों को स्वीकार नहीं

करते। उनके मत से सभी कुछ अनिवार्य है, आवश्यक है और इसलिए मनुष्य विवश है। उनके मतानुसार मनुष्यों को परिस्थिति की अनिवार्यता का सिर झुका कर सामना करना चाहिए और दूसरी ओर कुछ दार्शनिक केवल आकस्मिकता के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार, विश्व में कुछ भी अनिवार्य नही है। यह एक निराशाजनक तथा अन्धकार की ओर ले जाने वाला सिद्धान्त है। इसका अर्थ है कि विज्ञान को तिलांजलि दे देनी चाहिए, घटना-क्रम को पहले से जानने, उसके अवश्यंभावी परिणाम से अवगत होने और उस परिणाम के अनुकूल या प्रतिकूल प्रयास करने की मानव के लिए कोई संभावना नहीं है।

अनिवार्यता और आकस्मिकता एक-दूसरे में सन्तरण भी करती है। एक दशा में जो घटना-क्रम अनिवार्य होता है, दूसरी अवस्था में वही आकस्मिक हो जाता है। ऐसे ही आकस्मिकता अनिवार्य हो जाती है। आदिम समाज में मालों का आदान-प्रदान करने की घटना आकस्मिक थी। कोई कम्यून या कबीला जो सामान पैदा करता था, आम तौर पर उसे खुद ही खपा लेता था और आकस्मिक रूप में ही कभी फालतू सामान पैदा होता था जिसे कबीला दूसरों को बेच देता था या विनिमय कर लेता था। परन्तु वही मालों का आदान-प्रदान पूंजीवादी व्यवस्था में अनिवार्य हो गया है।

अनिवार्यता और आकस्मिकता एक-दूसरे से पृथक् नही रहते। किसी प्रक्रिया में अनिवार्यता मुख्य दिशा, विकास की प्रवृत्ति ज्ञात होती है, परन्तु यह प्रवृत्ति आकस्मिक घटनाओं के एक पूरे समूह में से मार्ग निकालकर आती है। आकस्मिकता अनिवार्यता की—पूर्ति करती है और उससे उसके रूप का बोध होता है।

अनिवार्यता सदा निश्चित वस्तुगत अवस्थाओं में उत्पन्न होती है। परन्तु ये अवस्थायें खुद भी बदल जाती हैं और इसलिए अनिवार्यता भी बदलती और विकसित होती है। परन्तु प्रत्येक नई अनिवार्यता पूर्णतया तैयार शक्ल में पैदा नहीं होती। वह आरम्भ में केवल सम्भावना के रूप में

प्रकट होती है और खास अवस्थाओं के अन्दर ही वास्तविकता में परिणत होती है।

सम्भावना और वास्तविकता

जो विकासशील है वह नया अनिवार्य है। किन्तु वह सहसा—एकबारगी प्रकट नहीं हो जाता। पहले केवल निश्चित पूर्वदशायें प्रकट होती हैं। इसके बाद वे पूर्वदशायें परिपक्व होती हैं, विकसित होती हैं और वस्तु के स्वाभाविक विकास के नियमों के अनुसार नवीन वस्तु और व्यापार प्रकट होते है। नवीन के जन्म की ये पूर्वदशायें जो अस्तित्वमान वस्तु या व्यापार में पहले से सन्निहित होती है, संभावना कहलाती हैं। उसमें परिपक्व पौधे में रूपान्तरित होने की क्षमता रहती है। अंकुर से विकसित परिपक्व पौधा वास्तविकता होती है। जो संभावना उपलब्ध हो जाती है वही वास्तविकता है, अर्थात् संभावना साकार हो चुकती है।

वस्तुगत नियमों से संभावना विस्तृत होती है और वस्तुगत नियम ही उसे पैदा करते है। जैसे—जीव और पर्यावरण की एकता का नियम, बाह्य अवस्थाओं में पर्यावरण के जरिये, जीवों पर उद्देश्य के साथ कार्यशील होने की, पौधों और पशुओं की नई प्रजातियों का आविर्भाव करने की, संभावना पैदा करता है। समाजवादी अर्थतंत्र में सामूहिक स्वामित्व का नियम नियोजित आर्थिक विकास की संभावना पैदा करता है।

क्योंकि वस्तुओं और व्यापारों में अन्तर्विरोध होता है, इसलिए, संभावना भी अन्तर्विरोध युक्त होती है। प्रगतिशील (सकारात्मक) और प्रतिगामी (नकारात्मक) संभावनाओं में भेद करना चाहिए। सामाजिक क्रान्ति में प्रगतिशील शक्तियों के विकास की संभावना स्वाभाविक तथा स्थायी होती है और प्रतिक्रान्ति में प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय संभावना अस्थायी तथा अस्वाभाविक होती है। १६०५ की रूसी क्रान्ति में प्रतिक्रियावाद की अस्थायी विजय अवश्य हुई परन्तु कुछ ही वर्ष बाद १६१७ की समाजवादी क्रान्ति ने प्रगतिशील शक्तियों की स्थायी विजय

का मार्ग खोल दिया।

आकस्मिक घटनाओ तथा व्यापारो के ढेर के अन्दर सदा वस्तुगत अनिवार्यता का नियम छिपा रहता है। जैसे किसी डिब्बे के अन्दर गैस भरी हुई हो। इसके अणु निरन्तर अस्त-व्यस्ततापूर्ण गति मे रहते है। उनकी आपस मे और डिब्बे के किनारो के साथ आकस्मिक टक्करें होती रहती है। परन्तु डिब्बे के चारो छोरो पर गैस का दबाव सदा समान रहता है। यह भौतिकी के नियमो पर अनिवार्यता का सिद्धान्त निर्दिष्ट करती है। अणुओ की आकस्मिक गति उस अनिवार्यता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है जो न केवल गैस के दबाव बल्कि उसके तापमान, घनत्व, तापक्षमता और अन्य गुणधर्मों को तय करती है। सामाजिक विकास मे भी आकस्मिकता आवश्यकता की अभिव्यक्ति के रूप का काम करती है। पूंजीवाद मे मूल्य का नियम बाजार मे पूर्त्ति और माग के आधार पर कीमतो के आकस्मिक उतार-चढाव मे अभिव्यक्त होता है।

अनिवार्यता और आकस्मिकता की धारणाओ का महत्व

विज्ञान और व्यवहार मे आकस्मिकता और अनिवार्यता का लेखा-जोखा लेना बहुत आवश्यक समझा जाता है। विज्ञान के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह बाह्य अभिव्यक्तियो, असख्य आकस्मिक घटनाओ और आन्तरिक सम्बन्धो के पीछे छिपे आन्तरिक अनिवार्य अन्त सम्बन्धो की खोज करनी पडती है और इसी खोज के आधार पर घटनाओ की परस्पर निर्भरता, आपसी सम्बन्धो के आधार पर होने वाले परिवर्तनो की प्रक्रिया का पता चलता है। यह जानकारी प्रकृति के क्रिया-कलापो की अनिवार्यता के नियमो का पता देती है। प्रत्येक विज्ञान अनिवार्यता का ज्ञान प्राप्त करने का प्रथम प्रयास करता है। यह नियम प्रकृति और समाज दोनो पर समान रूप से लागू होता है।

अनिवार्यता की भांति आकस्मिकता का ज्ञान भी विज्ञान के कार्य के लिए आवश्यक होता है। आकस्मिक घटनायें भी जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं। यही कारण है कि आज का कृषि-विज्ञान केवल जुताई-बुवाई,

सिंचाई एवं वैज्ञानिक उपकरणों में सुधार का ही प्रयास नहीं करता है बल्कि आकस्मिक आघातों, मौसम आदि के प्रकोपों के निवारण का भी प्रयास करता है।

विश्व की अन्य वस्तुओं की भांति संभावना का भी विकास होता है। वह कुछ बढ़ती है और कुछ घटती है। रूस में क्रान्ति की सफलता के बाद विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से घिरे रूस में समाजवाद की स्थापना की संभावना के साथ-साथ पूंजीवाद की पुनः स्थापना की भी संभावना थी। परन्तु जैसे-जैसे क्रान्ति स्थायी होती गई, पहली संभावना अनिवार्य वास्तविकता होती गई और दूसरी संभावना निरन्तर क्षीण होती गई।

संभावना के भी दो भेद हैं। दुरूह संभावना और सहज संभावना।

दुरूह (एब्स्ट्रैक्ट) संभावना वह है जो खास ऐतिहासिक अवस्थाओं में चरितार्थ नहीं हो सकती। जैसे सौरमण्डल के ग्रहों और आकाशीय पिण्डों में टक्कर की संभावना दुरूह है। इसलिए कि सौरमण्डल में बाहरी पिण्डों के प्रवेश की तथा ग्रहों से टकराने की संभावना अपरिमित एवं असाधारण रूप में अतीव सीमित है।

सहज (रीयल) संभावना वह है जो किन्हीं निश्चित अवस्थाओं के अन्दर चरितार्थ हो सकती है। जैसे समानान्तर विश्व समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद औपनिवेशिक व्यवस्था का चकनाचूर होना सहज है और इसके बाद से वह संभावना निरन्तर सामने आ रही है।

दुरूह और सहज संभावनाओं में अन्तर सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए—*विकास की प्रक्रिया में दुरूह संभावना कभी-कभी सहज बन जाती है और सहज संभावना दुरूह हो जाती है।* उदाहरण के लिए, कुछ वर्ष पहले तक मानव की अन्तरिक्ष यात्रा दुरूह थी। परन्तु विज्ञान एवं कारीगरी के विशिष्ट विकास के बाद यह सहज हो गई है। इसी तरह, स्वेज नहर के निर्माण से पहले योरप तथा एशिया की समुद्री यात्रा भूमध्य सागर से होकर दुरूह थी। परन्तु स्वेज नहर ने इसे सहज बना दिया। इसी तरह, १६वीं सदी के प्रारंभ में समाजवादी शक्तियों के अपरिपक्व

विकास के कारण समाजवाद का विकास करना दुरूह था। परन्तु वही आज सहज हो गया है।

प्रकृति और समाज मे अन्तर

सभावनाओ की दृष्टि से प्रकृति और समाज म विशेष अन्तर रहता है। प्रकृति मे सभावना आप ही आप अचेतन रूप म वास्तविकता बनती है। परन्तु समाज मे सभावनाओ को वास्तविक रूप देने के लिए जनता का सोद्देश्य एव नियोजित प्रयास अपेक्षित होता है। समाज मे काम कर रहे नियमो के ज्ञान के आधार पर मनुष्यो के सामूहिक हस्तक्षेप के बिना समाज म सभावनाओ का उदय नही होता।

यही कारण है कि मार्क्सवादी दर्शन के आदि आचार्यो ने समाज मे होने वाली समस्त हलचला, विभिन्न वर्गीय हितो एव उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिया का गभीरतापूर्वक अध्ययन किया है और उसी के आधार पर समाजवादी क्रान्ति की सफलता के लिए मार्ग अपनाने की शिक्षायें दी है।

व्यवहार पहले या सिद्धान्त ?

आत्मवादी दार्शनिक सिद्धान्त, धर्म और सामाजिक नियमो के सम्बन्ध म अजीब धारणा रखते हैं। उनका कहना है कि सृष्टि के समय ही मनुष्य जाति के लिए परमात्मा की ओर से कुछ सिद्धान्तो की रचना कर दी गई थी, कुछ धर्म एव कर्त्तव्य बना दिये गये थे और यहा तक कि परिवार सम्बन्धी नियमो का भी प्रतिपादन कर दिया गया था। यह भी कहा जाता है कि आदर्श सिद्धान्त शाश्वत है और उनका उलघन नही किया जा सकता। सनातन काल से जो सिद्धान्त चले आ रहे हैं तथा सामाजिक मर्यादायें कायम कर दी गई है सबको उन्ही का पालन तथा अनुसरण करना चाहिए।

इन पोगापथी दार्शनिको को यह कौन समझाये कि मनुष्य केवल विश्व की घटनाओ और वस्तुओ को अपनी इन्द्रियो द्वारा अनुभव ही नही

करता है तथा उनका अनुसरण ही नहीं करता है बल्कि सक्रियता एवं व्यवहार द्वारा उनको प्रभावित भी करता है।

इसके अलावा ज्ञान की अतिशय महिमा का वर्णन करने वाले ये दार्शनिक यह भी भूल जाते हैं कि स्वयं ज्ञान के उत्पादन तथा संचय में व्यवहार की अर्थात् श्रम की कितनी बड़ी भूमिका है। वास्तव में देखा जाए तो असली बात यही है कि तमाम सिद्धान्तों और ज्ञानों की प्रक्रिया को, उनके निश्चय किये जाने, पुष्टि करने तथा प्रामाणिकता लाने के लिए जन समुदाय के व्यवहार को ही आधार एवं कसौटी बनाया जा सकता है। इस व्यवहार से ही वह ज्ञान और सिद्धान्त जन्म लेते हैं तथा अगला व्यवहार इनकी प्रामाणिकता की स्थापना करता है।

हम रोज ही अनुभव करते हैं कि पहले मनुष्य काम करने लगते हैं और नया काम शुरू करने से पहले वे किन्हीं विशेष सिद्धान्तों की स्थापना नहीं करते और न कर सकते हैं। काम करते समय उन्हें कुछ अनुभव होते हैं। कुछ कठिनाइयां आती हैं और कुछ लाभ होते हैं। एक काम मे जो अनुभव होता है वही यदि दूसरे-तीसरे या चौथे काम में भी होता है तो कुछ आम धारणायें बनने लगती है। यदि उसी प्रकार के कार्यों में दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों में भी समानता रहती है तो उनके आधार पर कुछ क्षणिक एवं अस्थायी सिद्धान्तों की, रचना होती है। इन आम सिद्धान्तों की रचना से आगे के कार्य में सुविधा होने लगती है और दूसरे लोगों को हानि उठाये बिना ही इन सिद्धान्तों से लाभ होने लगता है। इसीसे इनकी सामाजिक प्रामाणिकता कायम हो जाती है।

इसी प्रकार, व्यक्तियों और समाज का व्यवहार जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे नित्य नये अनुभव सामने आते रहते है, जिनके आधार पर सिद्धान्तों का निखार तथा पुष्टि होती है। साथ ही जैसे-जैसे व्यवहार बदलता है, वैसे-वैसे सिद्धान्त बदलते रहते हैं। प्रारम्भिक वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर प्रकृति के सम्बन्ध में पिछले ३०० वर्ष पहले कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की गई थी। परन्तु जैसे-जैसे वैज्ञानिक प्रयोग होते

गए तथा प्रकृति के मुख से रहस्यो का घूघट हटता गया, नये सिद्धान्त सामने आते गए और पुरानो का स्थान लेते गए। महामनीषी स्वर्गीय आईन्स्टीन का सिद्धान्त प्राकृतिक रहस्यो का अनावरण करने मे अन्तिम माना जाता है। परन्तु अनन्त ब्रह्माण्ड मे और अनन्त रहस्यो से घिरी प्रकृति मे कोई भी सिद्धान्त अन्तिम कैसे कहा जा सकता है ?

इसलिए यही सिद्धान्त मार्क्सवादी एव वैज्ञानिक है कि व्यवहार पहले आता है और सिद्धान्तो की स्थापना बाद मे होती है। मानव को व्यक्तिगत रूप मे और विशेषकर सामूहिक रूप मे कोई भी वस्तु या सिद्धान्त सडक पर पडा हुआ नही मिला है। यहा तक कि सडको या मार्गों का भी उसे स्वय निर्माण करना पडता है। वह भी सडक पर पडी हुई नहीं मिलती। फिर यह सवाल ही कहा उठता है कि सृष्टि के आदि मे किसी अज्ञात कर्त्ता ने जिसे परमात्मा कहा जाता है मनुष्यो के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित कर दिये थे और वे उन्ही पर अमल करते आ रहे हैं ? यहा तक कि अपने दैनिक जीवन मे हम जिन मुहावरो का प्रयोग करते है उनकी रचना भी अचानक एक दिन मे नही हुई होगी। हजारो वर्षों के अनुभवो का निचोड उन कहावतो की पृष्ठ भूमि मे रहता है। जिसने कार्त्तिक मे मटठा पीने पर रोक लगाने की कहावत घडी होगी उसने पता नही कितने लोगो के कटु अनुभवो से लाभ उठाकर ऐसा किया होगा।

इसके अलावा, यह मान लेने से कि सिद्धान्तो की रचना परमात्मा ने या किन्ही महापुरुषो ने की है तथा मानव समाज के श्रम तथा सामूहिक प्रयासो मे से उनकी रचना नही होती है, एक अनर्थकारी असत्य भाषण तो है ही, साथ ही कृतघ्नता एव विश्वासघात भी हैं। जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तो को आज हम सर्व सिद्ध एव सहज सिद्धान्त मान लेते हैं, क्या प्रकट नही है कि इनके लिए लोगो ने कितने बलिदान किये हैं ? धर्मशास्त्र तो धरती को चपटी एव स्थिर बताते रहे तथा सूर्य को उसकी परिक्रमा करता कहते रहे। परन्तु जिन वैज्ञानिको ने खोज करके

इसे गोल कहा और सूर्य की परिक्रमा करता बताया, उन्हें शूली पर चढ़ना पड़ा और इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए गेलोलियो को अपना प्रिय जीवन छोड़ना पड़ा। यदि यह सिद्धान्त भी हमें योंही और ईश्वर की ओर से दिया हुआ मिल गया है और हम गेलोलियो के सामने नतमस्तक नहीं होते तो हमसे अधिक कृतघ्न (अहसान फरामोश) कौन होगा?

और फिर जब यह दुनिया ही निरन्तर बदल रही है, प्रत्येक वस्तु ज्योंही हम उसकी चर्चा करना शुरू करते हैं, आंखों से ओझल हो जाती है, यहां तक कि चर्चा करने वाली जीभ और उसे देखने वाली आंख भी वही नहीं रहती जो दो मिनट पहले थी, तो इन गरीब सिद्धान्तों तथा सामाजिक नियमों की क्या कहें जो उन्हीं वस्तुओं पर निर्भर करते हैं? जैसे ही समाज और उसकी परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे ही व्यक्ति का व्यवहार भी बदल जाता है और व्यवहार के बदलते ही सिद्धान्त भी बदल जाता है।

उदाहरण के लिए—प्राकृतिक खेती की व्यवस्था में किसी किसान के खेत से गन्ना या भुट्टा तोड़ना आपत्तिजनक नहीं समझा जाता था। इसलिए कि विनिमय प्रथा प्रारंभिक अवस्था में थी और किसान को यही अनुभूति नहीं होती कि दो चार गन्नों और मकई के दो चार भुट्टों के टूट जाने से उसे कितनी हानि होती है। परन्तु खेती में पूंजीवादी आर्थिक सम्बन्धों एवं मुनाफे की प्रवृत्ति का विकास होते ही किसान यह अनुभव करने लगता है कि इतने मात्र से उसे १० पैसे या २० पैसे की क्षति होती है। इस विचार के मन में आते ही वह गन्ने या भुट्टे का तोड़ा जाना बन्द कर देता है। फिर सभी किसान रात में पंचायत करते हैं कि जो किसी के खेत से गन्ने या भुट्टे तोड़ेगा उसे ५ रुपये दण्ड भरना होगा। बदलते व्यवहार से नया सिद्धान्त बना कि किसी के खेत में उजाड़ (नुकसान) नहीं करना चाहिए। प्राकृतिक कृषि व्यवस्था में गन्ने तथा भुट्टे का तोड़ा जाना किसान का दम समझा जाता था जिससे उसे पुण्य लाभ होता है। उसी के अनुरूप सिद्धान्त बना था कि राहगीरों को

गन्ना या भुट्टा तोडने की मनाही नही की जा सकती ।

व्यवहार के साथ सिद्धान्त बदल जाता है !

सामाजिक क्रान्तियां और ज्ञान का आधार

आत्मवादी दार्शनिक ज्ञान और सिद्धान्त की महिमा का वर्णन करते नही थकते थे । परन्तु मानव श्रम और व्यवहार को वे अतिशय घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए कि सिद्धान्तो की चर्चा विशिष्ट लोग करते हैं और श्रम तथा व्यवहार मे सर्वसाधारण लोग फसे रहते है । परन्तु ये विशिष्ट लोग जिनके आधार पर सिद्धान्तो की विवेचना करते है, ज्ञानो की प्राप्ति एव सचय करते हैं वे सर्वसाधारण लोगो के व्यवहार ही है। और ये व्यवहार ही समाज मे क्रान्तियो के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करते है, उनकी सामाजिक आवश्यकता सिद्ध करते हैं और अन्त मे वे ही उन्हें सफल बनाते हैं जिसके बाद समाज की समस्त चिन्तन क्रिया और सिद्धान्त ही बदल जाते हैं।

इस महामहिम मानव ने केवल प्रकृति से काम ही नही लिया, उसके भयावह रूप को केवल बदला ही नही, उसके सुखद रूपो मे केवल वृद्धि ही नही की बल्कि ऐसी वस्तुओ का निर्माण भी किया जो प्रकृति से कई गुना अधिक दृढ, स्थायी और मनोहर थी। और वैसा वह केवल अपने सामाजिक श्रम की महिमा के कारण कर सका।

प्रश्न किया जाता है कि मानव ने ये अद्भुत कार्य अपने ज्ञान तथा सिद्धान्तो के कारण ही किये हैं। प्रश्न उठता है कि ये सिद्धान्त और ज्ञान कहा से आये? सबसे पहले मानव को जीवित रहने के लिए आहार जुटाना पडा। इसके लिए कुछ काम करना जरूरी था और काम के दौरान उसे प्रकृति की शक्तियो से मुकाबला पडा। वह धीरे धीरे उन्हे समझने लगा। उत्पादन ने और नये विकास ने उसमे ज्ञान की आवश्यकता अनुभव कराई। प्राचीन काल मे भी मनुष्यो को भूमि का रकवा नापने, औजार गिनने, पैदा हुए सामान को मापने आदि की आवश्यकता होती थी जिससे

गणित और उसके विभिन्न सिद्धान्तों का विकास होता गया। इन सिद्धान्तों के विकास के बाद व्यवहार अधिक सरल और अधिक लाभदायक हो जाता था।

इस प्रकार व्यवहार से उत्पन्न ज्ञान एवं सिद्धान्त व्यवहार को प्रोत्साहन देता था।

यही कारण है कि लेनिन ने व्यवहार और सिद्धान्त के आपसी सम्बन्धों पर अत्यधिक बल दिया है। वे एक-दूसरे के विकास की गति को कई गुना बढ़ा देते हैं। विपरीत इसके, व्यवहार के बिना सिद्धान्त निरर्थक हैं और कोरा वितण्डावाद है जैसे कि अधिकांश भारतीय दर्शन शास्त्र। और सिद्धान्त के बिना व्यवहार सर्वथा अन्धा है और वह केवल अराजकतावाद का सूत्रपात करता है। व्यवहार से उत्पन्न होकर सिद्धान्त व्यवहार का मार्ग प्रशस्त करता है और इस प्रकार इनका गहरा आपसी सम्बन्ध है।

व्यवहार सिद्धांत की कसौटी है

जिस वस्तु का हमें ज्ञान हो जाता है या जो सिद्धान्त हम जान जाते हैं, वह खरा है या खोटा, इसकी परीक्षा के लिए व्यवहार के अलावा दूसरी कसौटी नहीं होती। हम बहस या शास्त्रार्थ चाहे जितना कर लें, परन्तु इसका निबटारा अन्त में व्यवहार ही करता है। कार्ल मार्क्स ने इस सम्बन्ध में कहा था—"यह प्रश्न कि वस्तुगत सत्य को मानव चिन्तन का गुण माना जा सकता है या नहीं सिद्धान्त का प्रश्न नहीं है, यह तो व्यवहारिक प्रश्न है। व्यवहार में मनुष्य के लिए सत्य को अर्थात् यथार्थ और सत्य को अपने चिन्तन की इह लौकिकता को, प्रमाणित करना अनिवार्य है।"

प्राकृतिक सिद्धान्तों की भांति सामाजिक-सिद्धान्त भी व्यवहार की ही कसौटी पर कसे जाते हैं। बहुत-सी राजनैतिक पार्टियां अपने सिद्धान्तों का वर्णन करती हैं तथा विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा समाजवाद की स्थापना

के दावे करती हैं। इनमे भारत की स सो पा, प्र सो पा, रूस, फ्राम, इगलैंड, जर्मनी, स्वीडन और बहुत से देशो की सोशल डैमोक्रेटिक पार्टिया आदि हैं। ये सभी पार्टिया मार्क्सवादी आन्दोलन की रीति-नीति का विरोध करती हैं, परन्तु अपने को समाजवाद का दावेदार बताती है। अराजकतावादी भी ऐसा ही करते थे। परन्तु सवा सौ साल का व्यवहार बताता है कि मार्क्सवादी आन्दोलन एक तिहाई दुनिया मे समाजवाद की स्थापना कर चुका है और ये पार्टिया प्रत्येक निर्णायक घडी मे पूजीवाद के लिए पापड बेलती हैं। वे कही भी समाजवाद नही ला सकी।

बौद्धिक दासता का अन्त

मानव समाज के इतिहास ने अब तक विविध क्रान्तियों तथा दर्शनों के अनुभव किये हैं। मार्क्सवाद इन सभी क्रान्तियों की मूल प्रेरक शक्ति, अर्थ व्यवस्थाओं तथा आर्थिक उत्पादन सम्बन्धों को मानता है। सामाजिक जीवन का अस्तित्व उन आर्थिक साधनों पर निर्भर करता है जिन्हें एक पीढ़ी पहली पीढ़ी से विरासत में ग्रहण करती है और फिर उनमें गौण या मौलिक सुधार करके अगली पीढ़ी को सौंप देती है। ये साधन एक मंजिल तक तो पुरानी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करते और परिणामस्वरूप पूरे सामाजिक ढांचे और दृष्टिकोण को चुनौती नहीं देते, परन्तु सदा ही ऐसा नहीं होता। जब आर्थिक ढाचा, रहन-सहन की परिपाटी और खाने-कमाने के तौर-तरीके पहली पीढ़ी के मुकाबले में मूल रूप से बदल जाते हैं, तो लोगों का सोचने-समझने और काम करने का तरीका तथा रस्मों-रिवाज भी बदलने लगते हैं। आम तौर पर यहीं से झगड़े शुरू होते हैं।

इन झगड़ों का भी ऐतिहासिक और आर्थिक कारण होता है। जब वह आर्थिक अन्तर्विरोध दूर हो जाता है जो सामाजिक तनाव उत्पन्न करता है तो पुराने अन्तर्विरोध शान्त हो जाते हैं तथा नये पैदा हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, जब योरुप में पूंजीवाद का तेजी के साथ विकास हुआ और सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के स्वार्थों पर उदीयमान बूर्जुआ वर्ग ने लगातार आघात किये तो उसने केवल सामन्ती आर्थिक हितों और जमी-

भी प्रदान करता है। प्रकृति, ब्रह्माण्ड और चराचर जगत वास्तव में दारियों तक ही हमला सीमित नहीं रखा। सामन्ती आचार विचार, सभ्यता, संस्कृति और विचारधारा भी उनके हमलों का शिकार होती गयी। इस प्रकार सामन्तवाद बुर्जुआ वर्ग के चौतरफा हमलों का शिकार हुआ और नष्ट हो गया। यही स्थिति भारत में भी देखी गयी। महान् साम्राज्य विरोधी मुक्ति आन्दोलन के अवसर पर उदीयमान भारतीय पूंजीपति वर्ग और उसके विचारकों ने केवल साम्राज्यवाद पर ही आघात नहीं किये बल्कि उसके पोषक भारतीय सामन्तवाद पर भी जबर्दस्त प्रहार किये। स्त्री शिक्षा, सहशिक्षा, अछूतोद्धार, जात्-पाँत तोडक मंडल, पाखण्डों का खण्डन और ऐसे ही अनेक प्रगतिशील नारे लगाकर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग जनवादी क्रान्ति की सफलता के लिए अभियान छेड़ रहा था।

परन्तु *जैसे अपने दोगले आचरण और स्वभाव के कारण पूंजीपति वर्ग* अपने से पहले की आर्थिक व्यवस्थाओं के अवशेषों का पूर्ण उन्मूलन नहीं करता, उन्हें पूरी तरह उखाड़कर नहीं फेंकता, उन तत्वों से समझौते करके उन्हें अपने अनुकूल मोड़ने का प्रयत्न करता है तथा कभी-कभी उनकी रक्षा तक करता है ताकि पूंजीपति के प्रतिक्रियावादी अस्तित्व की रक्षा के लिए उन्हें इस्तेमाल किया जा सके, उसी तरह, वह पुरानी व्यवस्था के रूढिवादी संस्कारों, परम्पराओं, और बौद्धिक अन्धविश्वासों को भी कायम रखता है। उसे यह डर सताता रहता है कि एक बार दिमागी गुलामी दूर होते ही, प्रगतिशील चिन्तन परम्परा की शुरुआत होते ही, मानव जाति न केवल सामन्ती दासता के खिलाफ विद्रोह कर उठेगी बल्कि हर प्रकार की आर्थिक, सामाजिक व बौद्धिक दासता का अन्त कर देगी। इसी से वह सबसे अधिक भय खाता है। वह जिस ढंग से पूंजीवाद के विकास से पहले वाली आर्थिक शक्तियों से समझौते करता है और इसीलिए प्रतिक्रियावादी हो गया है, उसी तरह वह अपने से पहले वाली विचारधाराओं तथा सामाजिक परम्पराओं का भी पक्षपोषण करता है।

अन्तर केवल इतना है कि कुछ पूंजीवादी तत्व खुलेआम ऐसा करते

है और कुछ अप्रत्यक्ष रूप से पुरानी विचारधाराओं को "भारतीय परम्पराओं" के नाम पर "आशीर्वाद" देते है।

जनसंघ खुले आम पुराणपंथिता का पैरोकार है जबकि स्वतन्त्र पार्टी आधुनिकता की पक्षधर है। परन्तु व्यवहार मे वे दोनो ही पूंजीवाद के प्रतिक्रियावादी संस्करण है।

इस युग की सबसे बडी विशेषता यही है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वर्गों की भूमिका तथा उनके वर्गीय दृष्टिकोण और विचारधाराओं का प्रभाव सभी को स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा है। सब लोग यह समझने लगे है कि पूंजीवाद इस युग में अपने ऐतिहासिक कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है। वह जिस तरह पुराने आर्थिक हितों तथा स्वार्थों को आर्थिक जीवन की सीमाओं से बाहर नहीं धकेल सकता, उसी तरह बौद्धिक चिन्तन के क्षेत्र से भी वह अवैज्ञानिक चिन्तन परम्पराओं को बाहर नही धकेल सकता। यह ऐतिहासिक विडम्बना ही समझनी चाहिए कि गैर-पूंजीवादी आर्थिक विकास के माध्यम का सहारा लेकर सर्वहारा वर्ग जिस तरह एक ओर तो पूंजीवाद के विकास से पहले की पूर्वावस्थाओं के अवशेषों का उन्मूलन करता है, पूंजीवाद को एकाधिकार की ओर बढ़ने से रोकता है तथा समाजवादी आर्थिक पुनर्गठन के लिए जमीन तैयार करता है, उसी तरह, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के माध्यम से वह उन तमाम दूषित विचारधाराओं का प्रभाव खोता है जो मानव को बौद्धिक दासता में जकड़े रहती है और खुले दिमाग के जरिये उसे सर्वांगीण उन्नति के पथ का पथिक होने से रोकती हैं। भिन्न परिस्थितियों में ये कार्य पूंजीवाद के थे।

मार्क्सवाद वास्तव में हर तरह की बौद्धिक दासता का, दिमागी गुलामी का अन्त कर देता है। वह प्रकृति और समाज के रहस्यों को रहस्य नही रहने देता। खुली पुस्तक के पन्नों की तरह उसे खोलकर रख देता है। वह केवल पन्ने ही नहीं खोलता है बल्कि उन्हें पढ़ने की क्षमता एवं साहस भी प्रदान करता है। प्रकृति, ब्रह्माण्ड और चराचर जगत वास्तव में

जितना विशाल और महान् है, उसका विराट् रूप सबसे पहले मार्क्सवाद ने ही प्रकट किया है । परन्तु यह भी सर्वविदित है कि मानव मस्तिष्क की अजेयता, दुरूहता और असाधारण क्षमताओ के सम्बन्ध मे भी मार्क्सवाद ने ही सबसे पहले प्रकाश डाला है । मुक्ति, मोक्ष और ऐसी ही व्यक्तिगत एव स्वार्थी धारणाओ मे फसा कर पुराने दार्शनिको ने मानवजाति को बहुत सीमित गोरखधधे मे उलझा दिया था । वह जीवन और मृत्यु की तरगो पर झूलता रहता था और परलोक की चिन्ता मे इस लोक के कर्तव्यो से विमुख सा व्यर्थ मे जीवन गवाता रहता था। परन्तु मार्क्सवाद अद्भुत दर्शन है । वह दर्शन को विज्ञान के रूप मे परिणत करता है । प्रकृति और समाज की प्रत्येक घटना मे वह उच्छृखलता और अनियमिता नही देखता । प्रकृति जितनी विराट् है, मानव मस्तिष्क की क्षमतायें उतनी ही विराट् और असीमित हैं । जैसे प्राकृतिक साधन असीमित हैं और धरती पर दस अरब लोगो से भी अधिक की आवश्यक्तायें पूरी की जा सकती है, उसी तरह मानव मस्तिष्क प्राकृतिक रहस्यो का भेदन करके सौर मण्डल और विराट् ब्रह्माण्डो की खोज कर सकता है । जिस तरह, प्राकृतिक साधनो का मानव मात्र की सेवा मे प्रयोग करने के लिए शोषण पूर्ण व्यवस्थाओ का अन्त करना आवश्यक है, उसी तरह मानव को दिमागी गुलामी से छुटकारा दिलाने के लिए अध्यात्मवाद और अतिभूतवादी दर्शनो से छुटकारा दिलाना परम अनिवार्य है ।

यदि हम यह दावा करें तो अतिश्योक्ति नही होगी कि मानव समाज की मुक्ति के मार्ग मे जितनी बडी बाधा बौद्धिक दासता है, उतनी कोई भी बाधा नही है। एक तो पुरानी परम्परायें और रूढियाँ मानव को प्राकृतिक रहस्यो की खोज मे साहसपूर्ण छलांग लगाने से रोकती रहती है, दूसरे ज्यो ही कोई विघ्न आकर अटकाव पैदा करता है त्यो ही मानव का आत्मविश्वास टूटने लगता है और वह पीछे की ओर मुड कर देखने लगता है । पीछे की ओर मुडकर देखना आगे बढते हुए कदमो के रुक जाने की निशानी है । इसका यह मतलब नही है कि मार्क्सवाद पीछे

की ओर मुड़कर देखना बुरा समझता है। परन्तु वह इसे केवल इन अर्थों में ही सार्थक समझता है जिन अर्थों में हम अतीत की विफलताओं से सबक लेकर, आगे के लिए सफलतापूर्वक अभियान चलाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु 'शंकाकुल' भविष्य के मुकाबिले 'उज्ज्वल' अतीत की चर्चा करना और इस प्रकार, भूतकाल की ओर देखते रहना मार्क्सवाद की दृष्टि में प्रतिक्रियावादी भटकाव है।

इस प्रकार, मार्क्सवाद सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्र में एक नये मानव के अवतार की विजय दुन्दुभी बजाता है। जो लोग बूढ़े भारत का कायाकल्प करना चाहते हैं और उसकी गतिरुद्ध नस-नाड़ियों में नये रक्त का संचार करने की सोचते हैं उनके लिए मार्क्सवाद का अध्ययन करना प्रथम आवश्यकता है।

मार्क्सवाद यह विश्वास पैदा करता है कि संसार में कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है। प्रत्येक वस्तु और घटना जानी जा सकती है और जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह प्रामाणिक है। जब वस्तु की ज्ञेयता और ज्ञान की प्रामाणिकता में इतना अटूट विश्वास उत्पन्न हो जाता है तभी मानव मस्तिष्क की असीमित सृजन क्षमताओं के द्वार मुक्त होते हैं।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा अंगों ने जो खोजें की हैं तथा प्रतिदिन की जा रही हैं उन्होंने अब तक के तमाम दर्शनों को कूड़े के ढेर पर पटक दिया है। केवल मार्क्सवाद ही न केवल वैज्ञानिक खोजों की कसौटियों पर खरा उतर रहा है बल्कि उनके लिए दिशादर्शक ध्रुव तारे की तरह काम कर रहा है। जब हम प्रकृति के नियमों का पता लगाकर अपनी सुख-सुविधाओं के साधनों का उत्पादन करना चाहते हैं तब मार्क्सवाद उन सिद्धान्तों का बोध कराता है जो इस लक्ष्य की पूर्ति करने में सहायक बनते हैं। और जब हम शोषण तथा हिंसा की शक्तियों से मानवता को मुक्ति दिलाने के संघर्ष का प्रारम्भ करते हैं तब मार्क्सवाद वह चेतना प्रदान करता है जिसके प्रकाश में विभिन्न वर्गों की भूमिका समझना आसान हो जाता है। यह समझकर ही शोषक वर्गों के खिलाफ शोषित

वर्गों को लामबन्द किया जा सकता है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि इस दुनिया मे कुछ प्रचलित नाम ऐसे हैं जिनका अर्थ केवल आधुनिक मार्क्सवाद से ही मेल खाता है। उदाहरण के लिए, ससार और जगत को ही ले लें। ससार का अर्थ हुआ जो निरन्तर आगे की ओर सरकता रहता है। (ससरति इति ससार) इसी प्रकार जगत का अर्थ होता है जो निरन्तर गतिशील रहता है और कभी रुकता नही। मार्क्सवाद प्रत्येक वस्तु और घटना को निरन्तर गतिशील बताकर और गति के मूल प्रेरक नियमों की ओर सकेत करके ऐसी वस्तुगत परिस्थितियाँ तैयार करता है जिनमे मानव स्वय विधाता बन जाता है और वह आस-पास के पर्यावरण का दास न रह कर स्वामी बन जाता है।

परन्तु, जैसा कि पीछे बताया गया है, अब तक के तमाम दर्शनो के मुकाबिले मे मार्क्सवाद सर्वथा नये ढग का दर्शन होकर भी पुराने दर्शनो का प्रतिवाद मात्र नही है और न वह उनका निषेध करता है। अब तक दर्शनो के सामने महान् वैज्ञानिक उपलब्धियो का अभाव था जिनसे वे लाभ नही उठा सकते थे और दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग की तरह का कोई ऐसा पक्षधर वर्ग भी उस समय उत्पन्न नही हुआ था जो समस्त पूर्वाग्रहों का परित्याग करके वैज्ञानिक समाजवाद और मार्क्सवादी चेतना के लिए अनवरत सघर्ष करता।

मार्क्सवाद सिखाता है कि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ और वातावरण मिलकर ही किसी कार्य और घटना को साकार करते हैं। आज वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनमे विज्ञान की नित नई खोजो के आधार पर मार्क्सवाद को भरा पूरा किया जा सकता है। आज सर्वहारा के रूप मे ऐसी सामाजिक शक्ति का उदय हो चुका है जो पूरी मानवता की मुक्ति के लक्ष्य से प्रेरित है और जब तक पूरी मानवता स्वतन्त्र नही हो जाती तब तक वह स्वय को भी स्वतन्त्र नही कर सकती। इस प्रकार, मार्क्सवाद के रूप मे मानव जाति की मुक्ति का अमोघ सिद्धान्त और

सर्वहारा वर्ग के रूप में मानव जाति की मुक्ति की अजेय सेना को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने एक साथ उजागर किया है। अब तक के तमाम दर्शन समाज की मुक्ति की चर्चा के साथ प्रारम्भ होते थे और अन्त में पूरे समाज को रूढ़िवाद की नई व पुरानी जकड़बन्दियों में जकड़ देते थे। परन्तु जैसे विज्ञान प्रत्येक प्रकार के अंधविश्वास और रूढ़िवाद का परम शत्रु है, उसी प्रकार मार्क्सवाद प्रत्येक अंधविश्वास और अज्ञान-मूलक परम्पराओं का जन्मजात शत्रु है।

इसके अलावा अब तक बड़े-बड़े ऋषियों, मुनियों, पीर-पैगम्बरों और महात्माओं ने मानव मुक्ति के बड़े-बड़े उपदेश दिये हैं। परन्तु अंत में निराश होकर वे भभूत मलकर जंगलों में चले गये और धूनी रमाकर अपनी ही मुक्ति के लिए साधना में लीन हो गये। उनमें जो घटिया किस्म के थे, वे जन-समुदाय में ही रह कर दूसरो को मुक्ति के उपदेश देते रहे और खुद सुरा-सुन्दरी में आसक्त रहते रहे। सामाजिक मुक्ति के लिए काम करने की क्षमता किसी में भी नही थी। समाज एक प्रकार की दासता से निकलकर दूसरे ढंग की दासता में उलझ-उलझ कर गिरता रहा। अब तक के 'मुक्ति दाता' पूरे समाज की मुक्ति का नारा देकर अपना अभियान छेड़ते थे। परन्तु अन्त में वे अपनी मुक्ति की ही कामनाओं में डूबकर रह जाते थे। परन्तु सर्वहारा वर्ग अब तक की परम्पराओं के विपरीत चल रहा है। वह समाज की मुक्ति के नारे के साथ अपना अभियान नहीं छेड़ता है। वह अपनी ही मुक्ति के कार्यक्रम की चर्चा करता है। परन्तु वह शोषण-पूर्ण समाज की सबसे निचली परतों में रहता है। जब तक पूरा समाज शोषण तथा हिंसा से मुक्ति नहीं पा लेता तब तक वह स्वयं भी मुक्त नहीं हो पाता। शोषण एवं हिंसापूर्ण व्यवस्था का सारा भार उसी पर टिका हुआ है। उसके मुक्ति प्राप्त करने से पहले पूरे समाज का मुक्त हो जाना अनिवार्य है। इसीलिए सर्वहारा वर्ग को पूरी मानव जाति का मुक्तिदाता कहा जाता है।

मार्क्सवाद और सामाजिक क्रांति

मार्क्सवाद ने दर्शनशास्त्र को एक नया आयाम और गरिमा प्रदान की है। मार्क्सवाद के उदय से पहले वह धार्मिक सिद्धान्तो और प्राय अन्ध-विश्वासो का पक्ष-पोषण किया करता था। यही कारण है कि वह सामाजिक प्राप्ति और बौद्धिक विकास का अग्रगामी पक्ष होने के बजाय उसका पृष्ठगामी दुमछल्ला था। परन्तु मार्क्सवाद ने उसे उसके योग्य स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

ऐसा इस कारण सभव हुआ है कि मार्क्सवाद के उदय से पहले पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र, ज्योतिष, ब्रह्माण्ड विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, समाज शास्त्र और विज्ञान की विविध शाखाओ तथा अगो और उपागो की गम्भीर गवेषणायें हो चुकी थी। विविधतापूर्ण वैज्ञानिक चेतना ने पुरान अन्धविश्वासो के स्थान पर ऐसी चिन्तन प्रणाली का विकास संभव कर दिया था जिसमे अन्धविश्वासो के लिए कोई स्थान नही था और जो प्रत्येक विवादास्पद तथा जटिल समस्या का गणितशास्त्र की भाति खरा और सुस्पष्ट समाधान प्रस्तुत करता था।

इसी प्रकार, विज्ञान को भी मार्क्सवाद ने ही महिमामण्डित किया है। इससे पहले विज्ञान को दर्शनशास्त्र से पृथक् और घटिया समझा जाता था। प्राविधिक शास्त्र (कारीगरी) को तो सामन्तवाद की भाति पूजीवाद मे भी रोजी कमाने का और निम्न कोटि के सामाजिक तत्वो (वर्गों) का उपकरण मात्र समझा जाता रहा है। परन्तु मार्क्सवाद पहला दर्शन है जिसने वैज्ञानिक खोजो तथा कारीगरो के आविष्कारो के

आधार पर नई सैद्धान्तिक मान्यताओं की स्थापना की है। इन मान्यताओं के सुसंगत समुच्चय के रूप में जब मार्क्सवाद का आविष्कार हुआ तो वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर बने वैज्ञानिक उपकरणों (कारीगरी आदि) का गौण स्थान कैसे बना रहता? इन्होंने नई दार्शनिक मान्यताओं के लिए भूमिका तैयार करके स्वयं को उतना ही सम्मानित किया है जितना दर्शनशास्त्र स्वयं है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद ने डार्विन, न्यूटन, गेलीलियो, आइंस्टीन और अन्य वैज्ञानिकों को वही स्थान प्रदान किया है जो किसी बड़े से बड़े दार्शनिक या महर्षि को इतिहास ने दिया है। और क्योंकि विज्ञान का क्षेत्र असीमित है, ब्रह्माण्ड और प्रकृति के प्रत्येक सूक्ष्म तथा वृहत् आकार उसके विवेचना क्षेत्र में आते हैं, इसीलिए मार्क्सवादी दर्शन भी असीमित एवं विविध है तथा उसकी विवेचना के क्षेत्र में वह प्रत्येक वस्तु एवं घटना स्वयंमेव आ जाती है जिसका अस्तित्व दूसरी घटनाओं तथा वस्तुओं को प्रभावित करता है।

इस प्रकार, मार्क्सवाद वह पहला दर्शन है जो वस्तुओं तथा घटनाओं को, अन्य दर्शनों की भांति, एकाकी एवं एकांगी रूप में नहीं देखता बल्कि समग्रता के रूप में देखता है और यह मानता है कि कोई विचार कभी अकेला पैदा नहीं होता बल्कि अपनी समकालीन परिस्थितियों के स्वाभाविक परिणाम के रूप में उदय प्राप्त करना है। मार्क्सवादी दर्शन के प्रकाश में हम किसी समाज में पनपने वाले विचारों के आधार पर समकालीन सामाजिक ढांचे की कल्पना कर सकते हैं और इसी प्रकार, सामाजिक ढांचे का ज्ञान प्राप्त करके उसमें पनपने वाले विचारों का भी ज्ञान प्राप्त करते है।

मार्क्सवाद ऐसा दर्शन है जो प्रकृति, समाज, प्राकृतिक नियम, और मन-विचार तथा आत्मा आदि के सम्बन्ध में विचार करते समय कभी किसी एक पक्ष पर जरूरत से अधिक जोर नहीं देता और किसी पक्ष को, अनावश्यक समझकर उपेक्षा के गर्त में नहीं फेंकता। यही कारण है कि

वेदान्ती और विज्ञानवादी चेतना पर अत्यधिक जोर देकर पूरे विश्व मे केवल चेतना ही चेतना व्याप्त देखते हैं और उनके एकागी दर्शन मे वह प्रत्येक वस्तु तुच्छ एव मिथ्या ली जाती है जो शुद्ध चेतना नही है। विपरीत इसके, कुछ जड भूतवादी अपने एकांगी दृष्टिकोण का अनुसरण करते-करते चेतना को भी जड भूत का अभिन्न रूप मानते हैं। परन्तु मार्क्सवाद इन दोनो दृष्टिकोणो को एकागी मानता है। चेतना भूत से पृथक् रहकर पैदा नही होती और न विकसित होती है। इन दोनो मे भूत मूल है और चेतना गौण है अर्थात् उसका विकार है। इसी प्रकार, चेतना भूत का परिणाम तो जरूर है परन्तु वह वैसा ही भूत नही है जैसा ईंट-पत्थर है। वह मस्तिष्क का अति जटिल गुण धर्म है। मस्तिष्क पर पडा हुआ वस्तुओ का प्रतिबिम्ब भावनात्मक है, मानसिक होता है। इस प्रकार, मार्क्सवाद जड, प्रकृति और चेतना की विवेचना करते समय दोनों को यथोचित महत्व एव स्थान प्रदान करता है।

मानव सभ्यताओ और दार्शनिक मान्यताओ की सृष्टि अपने आप और अमूर्त रूप से नही हो जाती। इनकी रचना सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियो की उपेक्षा करके किन्ही ऋषि-मुनियो द्वारा समाधि में बैठ कर भी नही की जाती। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण समाज मे प्रचलित उत्पादन पद्धति और आर्थिक परिस्थितियों का ही अनुसरण करता है। परन्तु नई आर्थिक परिस्थितिया अपने आप जन्म नही लेती। वे नये आर्थिक उपकरणो अर्थात् पैदावार के नये साधनो के जरिये जन्म लेती एव विकसित होती हैं। इस प्रकार, नये औजार और उनसे काम लेने वाली तथा उन्हें बनाने वाली सर्वसाधारण जनता का महत्व पहली बार मानव इतिहास मे मार्क्सवादी दर्शन ने ही प्रतिष्ठित किया है। यह साधारण-सी मौलिकता नही है। मार्क्सवाद ऐसा दर्शन है जिसने सर्वसाधारण जनता को इतिहास निर्माता के रूप मे और विज्ञान तथा कारीगरी को दार्शनिक आधार के रूप मे प्रस्तुत करके स्वय को उनके प्रेरक के रूप मे प्रस्तुत किया है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद जैसे समाज में प्रचलित आत्मवादी दार्शनिकों न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, और बौद्ध तथा जैन दर्शनों से मेल नहीं खाता उसी तरह, लोकायत, चार्वाक और बृहस्पति के अनात्मवादी दर्शनों से भी न तो वह मेल खाता है और न प्रेरणा लेता है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद नई मानवता का दर्शन बन गया है और प्रत्येक प्रकार के शोषण तथा दिमागी गुलामी का उन्मूलन करने के लिए वह अजेय सैद्धान्तिक अस्त्र बन गया है। यद्यपि बार-बार यह घोषणा की जाती है कि वह पुराना पड़ गया है तथा दफना दिया गया है, परन्तु ऐसी प्रत्येक घोषणा के बाद वह और भी अधिक नवीन एवं स्फूर्तिदायक होकर सामने आता है।

यही दर्शन इस ऐतिहासिक अनिवार्यता की ओर संकेत करता है कि पूँजीवाद की सत्ता उखाड़कर समाजवाद की स्थापना की जाय और उसके शासनतंत्र को छिन्न-भिन्न करके सर्वहारा शासनतन्त्र की स्थापना की जाय। पूंजीवाद और समाजवाद के बीच में संक्रांति काल की अनिवार्यता पर भी मार्क्सवाद ही बल देता और कहता है कि सर्वहारा अधिनायकवाद के बिना समाजवाद में कभी सन्तरण नहीं हो सकता। मार्क्सवादी दर्शन की विशेषता केवल इतनी ही नहीं है कि वह जीवन का दर्शन है और श्रमजीवी जनता के सामाजिक संघर्षों का स्वाभाविक फल है बल्कि उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह समसामयिक सामाजिक विकास की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति है और अब तक की समस्त दार्शनिक धारणाओं का असंगत निष्कर्ष है।

मार्क्सवाद की विशेषता समाजवादी आदर्श की स्थापना करना ही नहीं है। इसलिए कि मार्क्स से भी बहुत पहले अनेक सुधारकों ने पूंजीवाद के विकल्प के रूप में समाजवादी आदर्शों के सिद्धान्त की स्थापना कर दी थी। यह बात दूसरी है कि उनके समाजवादी दृष्टिकोण केवल कल्पनावादी थे और वास्तव में पूंजीवाद का विकल्प दे सकने में पूर्ण असमर्थ थे। इन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है:—काल्पनिक साम्यवादी,

काल्पनिक समाजवादी और टटपूंजिया समाजवादी।

काल्पनिक साम्यवादी सामाजिक विषमता से घृणा करते थे, समानता लाना चाहते थे और उनका विचार था कि कुछ सामन्तशाह और पूंजीवादी व्यक्तिगत रूप से इसके लिए उत्तरदायी हैं कि समाज म विषमता नही मिट पाती। यही कारण है कि ये लोग षडयन्त्रकारी प्रवृत्तियो और आन्दोलनो में सम्मिलित होकर इनके व्यक्तिगत उन्मूलन के लिए प्रयत्न करते थे। इससे अराजकतावादी आन्दोलन को बढावा मिला। मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विजय के बाद काल्पनिक साम्यवादियो का एक बडा हिस्सा अपने सिद्धान्त की असारता अनुभव करके मार्क्सवादी आन्दोलन मे सम्मिलित होता गया।

काल्पनिक समाजवादियो ने अपने प्रभावशाली तर्कों और कार्यों द्वारा बहुत पहले ही यह सिद्ध कर दिया था कि पूंजीवाद समाज की नई उदीयमान आवश्यकतायें पूरी करने मे असमर्थ है और नित नई समस्याओ का समाधान नही कर सकता। यही कारण है कि यद्यपि उनके काल्पनिक समाजवादी प्रयोग विफल हो गये तथा ऐसा होना स्वाभाविक भी था। परन्तु उन्होने वैज्ञानिक समाजवाद के विकास के लिए एसी सामग्री तैयार कर दी जिसके अभाव मे उसका चरितार्थ होना कदापि सभव न होता। अन्तर केवल इतना था कि काल्पनिक समाजवादी उन सामाजिक नियमो से अनभिज्ञ थे जो समाज का सचालन करते हैं। वे यह मानते थे कि कुछ व्यक्तियो का हृदय परिवर्तन कर दने स सामाजिक विषमता का अन्त किया जा सकता है। यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग की इस सन्दर्भ म विशेष ऐतिहासिक भूमिका है और उसकी पहलकदमी तथा नेतृत्व के बिना समाजवाद विजयी नही हो सकता।

निम्न पूंजीवादी समाजवादियो का वास्तव म समाजवाद स कभी कोई सम्बन्ध नही रहा। जिस समय पूंजीवाद न वृहत् आकार धारण करना प्रारभ किया और लघु उद्योगो के स्थान पर विशालकाय सयत्रो की स्थापना होने लगी उस समय आदि निम्न पूंजीवादी विचारको

ने पूंजीवाद को कोसना प्रारंभ कर दिया जो लघु-उत्पादन को नष्ट कर रहा था। ये लोग लघु-उत्पादक संघों और सहकारिता द्वारा पूंजीवाद की विशाल वृद्धि एवं वृहदाकार धारणा का विरोध कर रहे थे। परन्तु इनका विरोध अनसुना होता गया। इसलिए विशाल संयंत्रों की ओर बढना पूजीवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसे कुछ व्यक्तियों के विरोध-मात्र से नहीं रोका जा सकता। इसके अलावा लघु-उत्पादन या सहकारिता कभी पूजीवादी व्यवस्था के विकल्प नहीं बन सकते।

कुछ लोग यह दावा करते हैं कि काल्पनिक साम्यवाद या काल्पनिक समाजवाद की धारणायें अति प्राचीन हैं और केवल भूतकाल के इतिहास में ही कहीं स्थान पाती होंगी। वर्तमान में उनकी चर्चा का कोई महत्व नहीं है। परन्तु यह धारणा निराधार है। इसलिए कि आज भी काल्पनिक साम्यवाद और समाजवाद पूरे विश्व में मार्क्सवाद का विरोध करने के काम में प्रयुक्त किये जाते हैं। माओवाद के रूप में काल्पनिक साम्यवाद आज विश्व पूंजीवादी व्यवस्था अर्थात साम्राज्यवाद का अभिन्न सहयोगी है तथा सर्वोदय आदि के रूप में काल्पनिक समाजवाद और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी आदि के रूप में वह साम्यवादी आन्दोलन के विरोध में घातक अस्त्रों के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

मार्क्सवाद के रूप में वैज्ञानिक समाजवादी आन्दोलन सर्वहारा को नये सामाजिक उत्तरदायित्वों का बोध कराता है और ऐसी कार्य विधि का प्रतिपादन करता है जिसे अमोघ अस्त्र के रूप में कोटि-कोटि सर्वहारा वर्ग अपनाता जाता है। कहा जाता है कि मार्क्सवाद ऐसे पूंजीवाद की असंगतियों को देखकर विकसित हुआ था जो अब अपना आकार खो चुका है और नये रूप में उतरा है। मार्क्सवाद उसकी समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ है, आदि। परन्तु पूंजीवाद जैसे-जैसे 'बदलता' है अर्थात् नये रूपों में आता जाता है, वैसे-वैसे उसकी असंगतियां अधिक स्पष्ट होती जाती हैं और मार्क्सवाद की भविष्यवाणी अधिक सच होती जाती है।

वास्तव मे मार्क्सवाद दर्शन तो है ही साथ ही विज्ञान भी है। विज्ञान कभी पुराना और बासी नही होता। नई-नई खोजो और उपलब्धियो से वह सदा भरा पूरा होता है। जैसे-जैसे सामाजिक परिस्थितिया और वर्गीय सम्बन्ध बदलते हैं, वह उनका मूल्यांकन एव अध्ययन करता है। इसी अध्ययन के आधार पर मार्क्सवाद अपनी कार्यविधि और रणनीति बनाता है एव नये सिद्धान्तो की मान्यता प्रतिपादित की जाती है। उदाहरण के लिए पदार्थ विज्ञान की आधुनिकतम गवेषणाओ ने इस शास्त्र मे नई मान्यतायें स्थापित की हैं। परन्तु क्या इनसे न्यूटन की पुरानी मान्यताओ का खण्डन हो जाता है। विपरीत इसके, उन गति सम्बन्धी मूल सिद्धान्तो का और भी अधिक पक्ष पोषण होता है।

यही बात मार्क्सवाद पर भी लागू होती है। मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक विकास के जिन नियमो की खोज की थी, उनके अनुसार पूजीवाद के स्थान पर समाजवाद की विजय अवश्यम्भावी थी। यह बात दूसरी है कि पूजीवाद के साम्राज्यवाद के रूप मे अवतरण के बाद ये सामाजिक नियम और भी उग्र एव व्यापक हो उठे तथा सर्वहारा वर्ग के साथ स्वाधीनता प्रेमी जनता के विशाल बहुमत को लाकर खडा करने लगे। इस परिस्थिति का मूल्यांकन करके लेनिन ने औद्योगिक देशो के सर्वहारा वर्ग के पूजीवाद विरोधी सघर्ष मे औपनिवेशिक जनता के साम्राज्य-विरोधी आन्दोलनो को निकटतम सहयोगी के रूप मे चित्रित करके उन नियमो की वैज्ञानिक उपादेयता को और भी अधिक सुस्पष्ट एव व्यापक बना दिया। इससे मार्क्सवाद की मौलिक धारणाओ का खण्डन नही बल्कि मण्डन होता है।

यही कारण है कि अपने उदय काल के अवसर पर ही मार्क्सवाद सभी अन्य विचारधाराओ को पराभूत करने मे एव अपनी सर्व श्रेष्ठता स्थापित करने मे कामयाब होता गया। मार्क्सवाद ने पूजीवाद के दक्षिणपथी प्रतिक्रियावाद या वामपथी सकीर्णतावादी अवसरवाद के रूप मे स्वय को कभी श्रेणीबद्ध नही किया। विपरीत इसके उसने पूजीवाद के

समानान्तर कार्यक्रम के रूप में अपनी नीति समाज के सम्मुख रखी। बाद के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद की भांति वामपंथी संकीर्णतावाद भी साम्राज्यवाद के सहयोगी के रूप में उभरा है।

मार्क्सवाद जितना गतिशील और शक्तिशाली है, यह आभास लेनिनवाद को समझे बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि लेनिन न होते तो मार्क्सवाद के नाम पर ही मार्क्सवाद की हत्या करने वाले परास्त नहीं किये जा सकते थे। बदलती हुई आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करके मार्क्सवाद की जीवनदायिनी शिक्षाओं पर अमल करना कभी संभव न होता और तब मार्क्सवाद के अनुयायियों द्वारा ही मार्क्सवाद की हत्या कर दी जाती। यही कारण है कि लेनिन की शिक्षाओं ने न केवल मार्क्सवाद की काया कलुषित होने से रोकी है बल्कि उसके सिद्धान्तों को अधिक भरा-पूरा किया है और उसकी क्रांतिकारी अन्तरात्मा को निखारा है।

जब कुछ लोग नवयुवक कार्ल मार्क्स को परिपक्व कार्ल मार्क्स के मुकाबले खड़ा करके 'पूंजी' की मान्यताओं के विरुद्ध सैद्धान्तिक संघर्ष करने लगे तो कामरेड लेनिन ने 'कार्ल मार्क्स' नामक लघु पुस्तिका लिख कर उनका मुंहतोड़ जवाब दिया।

कार्ल मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं ने पूरे संसार में मार्क्सवाद की शिक्षाओं में संशोधन करना शुरू कर दिया। ये लोग मार्क्सवाद के नाम पर मार्क्सवाद का खण्डन करते थे और अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर राष्ट्रीय पूंजीवादी हितों के साथ तालमेल बैठा रहे थे। मार्क्सवाद को निम्न पूंजीवादी विचारधारा से दूषित कर रहे थे और मार्क्सवाद में संशोधन करना अपनी 'मौलिकता' मानते थे। इसमें संदेह नहीं है कि रूस, जर्मनी, फ्रांस और अन्य योरोपीय देशों में अनेक सच्चे मार्क्सवादियों ने जमकर संशोधनवादियों के साथ संघर्ष किया तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों की पवित्रता की रक्षा की। इनमें रूस के प्लेखानोव और जर्मनी की लग्जिम्बर्ग का नाम इतिहास में अमर हो गया

है। परन्तु इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कि मार्क्सवादी शिखर पर संशोधनवाद के मडराते काले बादलों को लेनिनवाद का प्रकाश ही ध्वस्त कर सका था। जिसके अभाव मे मार्क्सवाद भी केवल एक सैद्धान्तिक सम्प्रदाय के रूप मे ही बदल कर रह जाता।

इसी प्रकार एक सैद्धान्तिक भटकाव और भी था जो मार्क्सवाद को सामाजिक क्रांतियो का अमोघ अस्त्र होने से विमुख कर रहा था। वह था कठमुल्लापन अर्थात् जड सूत्रो की भाँति मार्क्स की उक्तियो को रट लेना, समय-असमय दोहराते रहना और उन सामाजिक परिस्थितियो को ठोस रूप मे समझने का प्रयत्न तक न करना जिनमे रह कर क्रांति का लक्ष्य प्राप्त करना है। ये लोग अपने आपको कट्टर 'मार्क्सवादी' कह कर पुकारते थे। मार्क्स के सिद्धान्त सूत्रो से 'अलग हटना' पाप मानते थे। परन्तु यह नही जानते थे कि उन मार्क्सवादी सूत्रो का वास्तविक तात्पर्य क्या है और वे कैसे चरितार्थ किये जा सकते हैं। हर प्रकार की दिमागी (बौद्धिक) दासता के शत्रु—मार्क्सवाद को भी इन्होने एक नई प्रकार की बौद्धिक दासता मे जकड दिया था और मौलिक चिन्तन की प्रक्रिया बन्द कर दी थी। कामरेड लेनिन ने अपनी तेजस्वी लेखिनी और प्रखर बौद्धिक चिन्तन शैली द्वारा ऐसे लोगो द्वारा फैलाया गया भ्रमजाल इस प्रकार निरस्त कर दिया जैसे सूर्योदय कुहरा धो देता है।

पूंजीवाद से समाजवाद मे सक्रमण का सिद्धान्त बहुत जटिल है और इस प्रश्न पर सबसे गभीर विवाद चल रहा था। कामरेड लेनिन ही विश्व की सबसे पहली समाजवादी क्रांति के शिल्पकार थे। इस क्रांति को विफल करने के लिए भी मार्क्सवाद विरोधियो ने 'मार्क्सवाद' का ही सहारा लिया था। वे कहते थे कि समाजवादी क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की होती है और वह किसी एक देश मे सफल नही हो सकती। ये 'स्थायी क्रान्ति' वाले समाजवादी क्रांति को सोवियत सघ मे उसके भाग्य के भरोसे छोडकर सम्पूर्ण योरप पर धावा बोलने का आह्वान करते थे। ट्राट्स्की इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवक्ता थे। परन्तु का० लेनिन

ने इस प्रश्न पर गंभीर सैद्धान्तिक विवेचना करके क्रांति-विरोधियों का मुंह कुचल दिया। लेनिनवाद का गंभीर अध्ययन करने के लिए निम्नलिखित ऐतिहासिक रचनाओं ने लेनिन का नाम अमर कर दिया है:

क्या करें, जनवादी क्रांति में समाजवादी जनवाद की दो कार्यनीतियां, साम्राज्यवाद, अवसरवाद और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय पतन, वर्तमान क्रांति और गद्दार काट्स्की, वामपक्षी साम्यवादी : बालव्याधि और विभिन्न पार्टी अधिवेशनों में उनके भाषण।

समाजवादी क्रान्ति के सम्बन्ध में कामरेड लेनिन के सिद्धान्त कम्युनिस्ट आन्दोलन के सिद्धान्त हैं।

यद्यपि यह सही है कि कामरेड लेनिन की उल्लिखित एवं अनुलिखित रचनायें सारी ही महत्वपूर्ण हैं और एक भी ऐसी नहीं है जिसकी पूर्ति करना संभव हो, परन्तु 'साम्राज्यवाद' एवं 'राज्य और क्रांति उनकी ऐसी युगान्तकारी रचनायें हैं जिन्होंने इस शताब्दी की सभी समाजवादी एवं जनवादी क्रांतियों का मार्ग निर्धारण किया है। उदाहरण के लिए जब तक पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद के रूप में आकार धारण नहीं किया था और उसका घोर प्रतिक्रियावादी रूप नहीं निखरा था, तब तक मार्क्सवादी यही मानते थे कि अत्यन्त विकसित पूंजीवादी देशों में ही समाजवादी क्रांति सफल होगी। यह मान लिया गया था कि जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे लघु स्तर का उत्पादन समाप्त होता जाएगा और उसका स्थान बड़े स्तर का उत्पादन लेगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह सोचा गया था कि समाज का बहुसंख्यक भाग सर्वहारा होता जाएगा और वह पूंजी का शासन समाप्त करके सर्वहारा के समाजवादी शासन की आधार-शिला रखेगा। यही सोचकर मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि जर्मनी या इंगलैंड अथवा फ्रांस में सबसे पहले समाजवादी क्रान्ति की विजय होगी। परन्तु साम्राज्यवाद के रूप में जब पूंजीवाद का विकास हुआ तो वह अपना पूंजीवादी संकट उपनिवेशों की जनता पर डालने लगा। यही वह समय था जब सामाजिक क्रान्तियों का भौगोलिक

स्थानान्तरण योरोप की अपेक्षा एशिया और अफ्रीका की ओर होता गया। कामरेड लेनिन ने एक सच्चे मार्क्सवादी के रूप मे इस ऐतिहासिक मोड की वैज्ञानिक विवेचना की और यह घोषणा की कि "जहा साम्राज्यवाद की कडी कमजोर होगी, वह वही से टूटेगा।" रूस मे वह कमजोर था और सर्वहारा वर्ग लेनिन के नेतृत्व मे सर्वाधिक शक्तिशाली था। वह वही से टूट गया। इसके बाद, धीरे धीरे क्रान्तियो ने एशिया, लैटिन अमरीका और अफ्रीका मे भूचाल की भाति सन्तरण किया है। कामरेड लेनिन पहले मार्क्सवादी थे जिन्होने उपनिवेशो की जनता के मुक्ति आन्दोलनो को सर्वहारा की समाजवादी क्रान्तियो के अभिन्न सहयोगी के रूप म देखा था। यदि यह सभावना अनदेखी रह जाती तो सोचा जा सकता है कि सामाजिक क्रान्तियो का मार्ग अवरुद्ध होकर रह जाता।

इस प्रकार, लेनिनवाद साम्राज्यवादी युग का मार्क्सवाद है।

प्रकृति और समाज के सम्बन्ध मे हजारो वर्षो से लोग जिस वैज्ञानिक धुधलेपन के साथ सुखद कल्पनायें करते आ रहे हैं, उनमे कभी उन्हे यह आत्मविश्वास प्राप्त नही था कि वे प्रकृति को अपनी सुविधाओ के अनुसार बोधित मोड दे सकते हैं और न वे यह आशा ही करते थे कि वे समाज की ऐसी रचना कर सकते हैं जिसम शोषण एव विषमता का अन्त हो जाएगा तथा सभी लोग सुख शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते है। परन्तु यह मार्क्सवाद लेनिनवाद ही है जो इस प्रकार का आत्मविश्वास हम मे जगाता है जिसमे हम प्रकृति के दास नही बल्कि स्वामी बन सकते है और समाज के भयावह तथा दु खद रूपा का अन्त करके उसे सुख-शान्ति म बदल सकते हैं।

इसीलिए मार्क्सवाद प्रकृति के मूल नियमो का भेदन करके मानव को विधाता के रूप मे प्रतिष्ठित करता है और समाज को ऐसा रूप प्रदान करता है जिसमे स्वर्ग एव मोक्ष की कल्पनाए तुच्छ बन कर रह जाती है। मार्क्सवाद लेनिनवाद समस्त वैज्ञानिक उपलब्धियो का अन्तिम निचोड है और यह मानव मुक्ति का अमोघ सैद्धान्तिक अस्त्र है।